वर्ष 2 ◆ अंक 3 ◆ आषाढ़–श्रावण–भाद्रपद, 5122 कलि. ◆ जुलाई–अगस्त–सितम्बर, 2020 ई.

सभ्यता संवाद

भारत-चीन संबंध : मिथक और यथार्थ

भारत-चीन सांस्कृतिक सम्बन्ध
डॉ. शशि बाला
भारत-चीन सांस्कृतिक सम्बन्ध
डॉ. शशि बाला
चीन-भारत सम्बंध के मिथक व प्रभाव (रामायण काल से अब तक)
विवेक भटनागर
चीन और उसके मिथक
रवि शंकर
19वीं शताब्दी में ग्रेट गेम की छाया
रवि शंकर, डॉ. राहुल पांडेय
तिब्बती धर्म चिंतन और साहित्य में संस्कृत की भूमिका
विजय क्रांति
चीन-पाकिस्तान गंठजोड़ का भारत पर प्रभाव
डॉ. शिव पूजन प्रसाद पाठक
प्रगाढ़तम रहे हैं भारत-तिब्बत के सांस्कृतिक संबंध
डॉ प्रशांत कुमार
निकटवर्ती एशियाई दशों के प्रति भारत की आर्थिक नीति एवम् चीनी प्रतिरोध
आशुतोष कुमार
धनुर्वेद से लेकर बोधिधर्म तक : युद्ध-कला की सनातन परम्परा और चीनी मार्शल आर्ट
डॉ. जयप्रकाश सिंह
तिब्बतम् शरणम् गच्छामि
डॉ. शैलेन्द्र कुमार
भारतीय संस्कृति के विश्वसंचार के अध्येता
डॉ. विवेक भटनागर
भारतकेंद्रित विश्वदृष्टि का अभाव
रवि शंकर
चीन की संस्कृति
अम्बिका प्रसाद वाजपेयी
भारत-चीन सम्बन्धों पर संगोष्ठी
मनोज आर्य

सभ्यता अध्ययन केन्द्र की त्रैमासिक शोध–पत्रिका

आगामी अंकों के संभावित विषय

अक्टुबर-नवम्बर-दिसम्बर, 2020 अंक
भारत चीन सम्बन्ध : संभावनायें और विकल्प

नेहरू की गलतियां

BRI इनिशिएटिव और भारत

सिल्क रोड या उत्तरापथ

गिलगित बाल्टिस्तान और अक्साई चीन का प्रश्न

मध्य एशियाई राजनीति में भारत की भूमिका

भारत मंगोलिया सम्बन्धों की संभावनाएं

युद्ध की आशंकाएं और शांति की संभावनाएं

चीन की आर्थिक चुनौतियां और भारत

जनवरी-फरवरी-मार्च, 2021 अंक
जनस्वास्थ्य, विज्ञान और परंपराएं

भोजन और स्वास्थ्य : परंपराएं और इतिहास

स्वास्थ्य, चिकित्सा और पद्धतियों का विकास?

विश्व की प्राचीन चिकित्सा पद्धतियां

आधुनिक चिकित्सा पद्धति का इतिहास

आयुर्वेद और विज्ञान

औपनिवेशिक भारत में आयुर्वेद

चिकित्सा पद्धतियों में शोध और संभावनाए

स्वाधीन भारत की स्वास्थ्य नीतियां

जन स्वास्थ्य और राज्य की भूमिका

सभ्यता संवाद

वर्ष 2, अंक 3

आषाढ़–श्रावण–भाद्रपद, 5122 कलि.

जुलाई–अगस्त–सितम्बर, 2020 ई.

मार्गदर्शक–मण्डल

डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय **प्रो. रामेश्वर प्रसाद मिश्र पंकज** **प्रो. राजकुमार भाटिया**

प्रो. कुसुमलता केडिया **डॉ. आनंद बर्धन** **श्री दिलीप केलकर**

◆

संपादकीय सलाहकार

श्री आशुतोष भटनागर **श्री ऋतेश पाठक** **डॉ. विवेक भटनागर**

◆

संपादक

रवि शंकर

◆

कार्यकारी संपादक

गुंजन अग्रवाल

◆

सह संपादक

मीनाक्षी, धीप्रज्ञ द्विवेदी, ओंकार नाथ, स्वाती शाकम्भरी

◆

प्रबन्ध संपादक

जगत मोहन, श्यामसुंदर तिवारी

◆

प्रचार–प्रसार प्रमुख

शुभ्रा सिंह (मोः 0901783196)

◆

संपादकीय कार्यालय

सभ्यता अध्ययन केन्द्र

बी14, गली. नं. 13, वजीराबाद गांव, दिल्ली–110084

दूरभाष : 9899588033, 9654669293

ईमेल : sabhyatasamvad@gmail.com, www.civilisationalstudies.org

फेसबुक : https://www.facebook.com/sabhyatasamvad/

◆

सभ्यता संवाद में प्रकाशित निबन्धों में प्रतिपादित विचारों और तथ्यों का उत्तरदायित्व निबन्ध–लेखकों का है और उनसे संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा नई दिल्ली, सक्षम अदालतों और मंचों के क्षेत्राधिकार के अधीन है।

प्रकाशक सभ्यता अध्ययन केन्द्र के लिए स्वामी रवि शंकर द्वारा बी–14, गली नं. 13, वजीराबाद गाँव, दिल्ली–110084 से प्रकाशित एवं प्रिंट-वे, 182 एफआईई, पटपड़गंज, इण्डस्ट्रियल एरिया, नयी दिल्ली–110092 से मुद्रित।

इस अंक में

- **भारत-चीन सांस्कृतिक सम्बन्ध** **06**
  डॉ. शशि बाला
- **चीन-भारत सम्बंध के मिथक व प्रभाव (रामायण काल से अब तक)** **13**
  विवेक भटनागर
- **चीन और उसके मिथक** **23**
  रवि शंकर
- **19वीं शताब्दी में ग्रेट गेम की छाया** **35**
  रवि शंकर, डॉ. राहुल पांडेय
- **तिब्बती धर्म चिंतन और साहित्य में संस्कृत की भूमिका** **42**
  विजय क्रांति
- **चीन-पाकिस्तान गंठजोड़ का भारत पर प्रभाव** **46**
  डॉ. शिव पूजन प्रसाद पाठक
- **प्रगाढ़तम रहे हैं भारत-तिब्बत के सांस्कृतिक संबंध** **55**
  डॉ प्रशांत कुमार
- **निकटवर्ती एशियाई दशों के प्रति भारत की आर्थिक नीति एवम् चीनी प्रतिरोध** **64**
  आशुतोष कुमार
- **धनुर्वेद से लेकर बोधिधर्म तक : युद्ध-कला की सनातन परम्परा और चीनी मार्शल आर्ट** **70**
  डॉ. जयप्रकाश सिंह
- **तिब्बतम् शरणम् गच्छामि** **77**
  डॉ. शैलेन्द्र कुमार
- **भारतीय संस्कृति के विश्वसंचार के अध्येता** **83**
  डॉ. विवेक भटनागर
- **भारतकेंद्रित विश्वदृष्टि का अभाव** **85**
  रवि शंकर
- **चीन की संस्कृति** **91**
  अम्बिका प्रसाद वाजपेयी
- **भारत-चीन सम्बन्धों पर संगोष्ठी** **96**
  मनोज आर्य

संपादकीय

आवश्यक है कम्युनिस्ट शासन और चीन राष्ट्रख में भेद करना

चीन के साथ हमारे संबंध अभी काफी विवाद का विषय बने हुए हैं। देश का एक बड़ा वर्ग चीन के आर्थिक बहिष्कार की बात कर रहा है। सरकार ने भी चीन के ढेर सारे मोबाइल एप्प को प्रतिबंधित कर दिया है। कुल मिला कर देश में अभी एक ऐसी स्थिति बनी हुई है, जिसमें यदि कोई चीन के साथ संबंध अच्छे बनाने की बात करे, तो उसे निश्चय ही देशद्रोही ठहरा दिया जाएगा।

समस्या यह है कि चीन के साथ जो शत्रुता निभाने की बात हो रही है, उसमें एक सूक्ष्म अंतर होना चाहिए था, जिसका ध्यान कोई भी नहीं रख रहा। वह सूक्ष्म अंतर है राष्ट्र और राज्य का। चीन का वर्तमान राज्य हमारा शत्रु है और निश्चित रूप से हमें उसे उसकी ही भाषा में उत्तर देना चाहिए। परंतु चीन एक राष्ट्र के नाते भारतवर्ष का ही एक भाग रहा है, बहुत अंशों में आज भी है। वहाँ हाल ही में यूरोप की सहायता से स्थापित हुए कम्युनिस्ट सत्ता ने अवश्य वहाँ के राष्ट्र को बरगलाने और भारत से काटने का प्रयास किया है, परंतु वह प्रयास अभी पूर्णता नहीं ले पाया है। इसलिए जब भी हमें चीन का उल्लेख करना हो, हमें इस सूक्ष्म अंतर का ध्यान रखना चाहिए। उदाहरण के लिए, चीन की शत्रुता का उल्लेख करते समय हमें हमेशा ही चीनी कम्युनिस्ट सरकार शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए, चीन मात्र का नहीं। इससे हम स्पष्ट कर पाएंगे कि चीन से हमारी कोई शत्रुता नहीं है, हमारी शत्रुता वहाँ स्थापित एक विदेशी तथा विधर्मी विचारधारा की सत्ता मात्र से है। यह स्पष्टता हमें भावी रणनीति बनाने में भी सहायता करेगी और साथ ही चीन की जनता को यह आश्वासन भी देगी कि आवश्यकता पड़ने पर हम इस क्रूर तथा विधर्मी सत्ता से उसकी मुक्ति में उसका साथ भी देंगे।

इसका एक और दूरगामी परिणाम यह भी होगा कि हम अपने देश में चीन की कम्युनिस्ट सत्ता के सहयोगियों को सरलता से पहचान पाएंगे। यह पहचान करना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि यही लोग भारत और चीन के बीच सामंजस्य को स्थापित होने में बाधक बन रहे हैं। हमें यह ठीक से समझना होगा कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हर गैरयूरोपीय शक्ति को कमजोर करने का एक षड्यंत्र पूरे विश्व में चल रहा है। इसके कारण विभिन्न प्रकार के संघर्षों और विवादों को बढ़ाया भी जा रहा है। इसके कारण न केवल संपूर्ण विश्व तनाव में है, बल्कि अशांति और हिंसा का भी व्याप बढ़ रहा है। यदि विश्व को संघर्ष से संवाद की ओर ले जाना है, तनाव तथा अशांति को सहजता और शांति से परावर्तित करना है और हिंसा तथा पशुता को समाप्त करके मानवता को स्थापित करना है तो भारत को यह पहल करनी ही पड़ेगी। भारत अपने संपूर्ण राष्ट्र, जिसमें कभी ईरान से लेकर चीन तक और मंगोलिया से लेकर श्रीलंकर तक आते थे, को फिर से एकीकृत करके न केवल अपनी शक्ति का परिचय दे सकता है, बल्कि इससे पूरे विश्व में संवाद, शांति, सहकार और साहचर्य को स्थापित करने का भी मार्ग भी वह प्रशस्त कर सकेगा।

– रवि शंकर

भारत-चीन सांस्कृतिक सम्बन्ध

✍ डॉ. शशि बाला

लेखिका भारतीय विद्या भवन में प्राच्य विद्या विभाग की अध्यक्ष हैं। डॉ. शशिबाला ने चीन समेत समस्त उत्तर पूर्वी एशियायी देशों के साथ भारत के संबंधों पर गहन अध्ययन किया है। इन विषयों पर उन्होंने अनेक शोध प्रबंध भी लिखे हैं। साथ ही 20 से अधिक पुस्तकें भी लिखी हैं। संस्कृत ऑन सिल्क रोड उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

भारत और चीन के मध्य सांस्कृतिक सम्बन्धों का इतिहास 2000 वर्षों से भी अधिक लम्बाहै। परन्तु इस पर भारतीय इतिहासकारों द्वारा लिखे गये अभिलेख बहुत ही कम संख्या में मिलते हैं। भारत आने वाले चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त, उनकी जीवनियाँ तथा चीनी राजवंशों के इतिहास आदि इस विषय में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। चीनी थाङ् वंशीय सम्राट् श्वेन जोङ् के आदेश पर जूजियान तथा वेईशू नामक विद्वानों ने एक ग्रन्थ लिखा था जिस में उससे पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से ऐसी सामग्री का संकलन किया गया जिनमें भारत-चीन सम्बन्धों पर महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु उपलब्ध होती है। भिक्षु दाओशी द्वारा 668 ई० में लिखित एक पुस्तक में चीन और भारत में विघमान बौद्ध धर्म का विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारत और चीन के मध्य स्थित समुद्री मार्ग, बन्दरगाहों तथा दोनों देशों के मध्य व्यापारिक गतिविधियों का एक विस्तृत विवरण 1304 ई० में लिखा गया था। समय-समय पर जो सम्राट् त्रिपिटकों का प्रकाशन कर पुण्य प्राप्त करते रहे उनका विवरण भी इस प्रकार के ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति ने विश्व में जो सत्य और आनन्द की खोज का मार्ग प्रस्तुत किया उसने चीनी जनमानस को स्वतः ही प्रभावित कर दिया। इस मार्ग पर चल कर वे जीवन में आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने लगे, कष्ट-निवृत्ति के मार्ग खोजने लगे तथा स्वस्थ जीवन और दीर्घायुष्य प्राप्त करने लगे। बुद्ध भगवान् का दिव्य-भव्य व्यक्तित्व उन्हें अनायास ही आकर्षित करने लगा। वे तो प्रायः सांसारिक सुख और धन-लिप्सा की सीमाओं में बंधे हुए थेय उन लोगों के मन ने पहली बार ऐसी अनुभूति हुई कि एक मात्र भिक्षा पात्र लिए व्यक्ति इतना विराट् स्वरूप प्राप्त कर सकता है। भिक्षु वेषधारी भगवान् बुद्ध स्वयं की दिव्यता और व्यक्तित्व की भव्यता लिए एक ऐसे अद्भुत विलक्षण व्यक्ति थे, जैसे उन्होंने कभी देखा-सोचा नहीं था। जिस समय लोग युद्धों से त्रस्त हो रहे थे और उनके परिवार युद्धों से बिखर रहे थे, उस समय में बौद्ध धर्म के आने से उनके हृदयों को दया, करुणा, प्रेम और मैत्री जैसे दार्शनिक विचारों की संवेदनशीलता रूपी मरहम मिलीय विभिन्न प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक एवं मानसिक समस्याओं का समाधान करते बौद्ध धर्म ने चीन में ऊंचे से ऊंचे और नीचे से नीचे स्तर के लोगों के मन में शीघ्र ही अपना स्थान बना लिया। इस दर्शन के अनुसार हर मनुष्य समान है, प्रत्येक हृदय में बुद्धांकुर है, हर व्यक्ति बोधि प्राप्त कर सकता है, आवश्यकता है केवल तप, ज्ञान और त्याग के मार्ग पर चलने की।

बौद्ध धर्म के चीन में प्रवेश के साथ-साथ एक नवीन सांस्कृतिकअभ्युदय का काल आरम्भ हुआ। उससे पूर्व जो भी सांस्कृतिक निधियां उपलब्ध होती हैं वे प्रायः सम्राटों की बड़ी-बड़ी समाधियों से होती

हैं उन्हीं से उन सम्राटों की शक्ति का आकलन होता था। परन्तु बौद्ध धर्म के साथ-साथ राज्य और राजा के जीवन में धर्म का स्थान प्रमुख होता चला गया। बड़े-बडे मन्दिर और विहारों का निर्माण किया जाने लगा। सम्राट् इनके निर्माण से गौरवान्वित होने लगे। विपुल संस्कृत साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद होने लगा। भारतीय आचार्यों और चीनी भिक्षु-विद्वानों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। एक-एक ग्रन्थ का कई-कई बार अनुवाद हुआ। सम्राट् अपने राजप्रासादों में भारतीय आचार्यों के ठहरने तक की व्यवस्थाएं करवाते रहे, उन्हें विशेष रूप से सम्मानित करते रहे, यहां तक कि अनेक आचार्यों को तो राजगुरु तक के पद पर आसीन कर उनका राज्य संचालन में योगदान प्राप्त करते रहे।

सांस्कृतिक-सम्बन्धों का प्रारम्भ

ई० सन् 67 में उत्कीर्ण किया गया शिलालेख उस इतिहास के प्रारम्भ का एक ऐसा अभिलेख है जिसे स्वर्णिमअक्षरों में लिखा जाना चाहिए। यह शिलालेख लोयाङ नामक नगर में स्थित पोमास्स नामक विहार में स्थापित है। पोमास्स का अर्थ है श्वेताश्व विहार। इस विहार की स्थापना जिन दो आचार्यों के लिएकी गयी वे थे काश्यप मातंग और धर्मरक्ष। ये श्वेत अश्वों पर संस्कृत के ग्रन्थों को चीनी सम्राट् की इच्छानुसार लेकर पहुंचे थे। इस विहार के प्रवेश द्वार पर ही दो पत्थर के घोड़े खड़े हैं जो उन अद्भुत क्षणों के स्मारक हैं जब वे दोनों आचार्य वहां उतरे थे। यहीं पर उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन संस्कृत ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद करते करते व्यतीत कर दिया। उनके द्वारा अनुदित चार ग्रन्थों में से केवल एक ही उपलब्ध है जिसमें बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या तथा विनय के नियम वर्णित हैं।

इस विहार में धर्मरक्ष और काश्यप मातंग दोनों आचार्यों की समाधियां हैं। जिन पर उत्कीर्ण शिलालेख इस इतिहास के साक्षी हैं। यहां स्थापित इन दोनों आचार्यों की मूत्तियों के दोनों ओर उनके चीनी शिष्य खड़े हुए हैं तथा उनके एक हाथ में संस्कृत का ग्रन्थ है। सन् 1104 में सुङ् चीनी सम्राट् हुईजोङ (1101-1125) ने आचार्य धर्मरक्ष और काश्यप मातंग को मरणोपरान्त सम्मान देते हुए उन्हें धर्माभ्युदयाचार्य के पद से अलंकृत किया (Law Master of starting the Dharma and attaining the perfect mastery of all truth.)

कालान्तर में इसी लोयाङ् नामक नगर को थाङ् वंश के राजाओं ने अपनी राजधानी बनाया। वहां 1800 बौद्ध मन्दिरों की स्थापना करवायी। वहां एक अन्य रोचक शिलालेख स्थापित है जिसमें लिखा हुआ है कि इन आचार्यों का ताओ सम्प्रदाय के श्रद्धालुओं के साथ शास्त्रार्थ हुआ। प्रश्न था कि दोनों में से कौन सत्य और अधिक प्रभावशाली है। दोनों ने अपने-अपने ग्रन्थ अग्नि में डाल दिये। शीघ्र ही ताओ ग्रन्थ भस्म हो गये परन्तु बौद्ध ग्रन्थों को अग्नि जला नहीं पायी। इसी अग्निपरीक्षा के उपरान्त इस विहार की स्थापना हुई।

भारतवर्ष से लगभग एक सहस्र वर्षों तक आचार्य चीनी सम्राटों के निमन्त्रण पर अथवा स्वेच्छा से बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ चीन जाते रहे। भारतीय इतिहासकार प्रायः उनके विषय में मौन हैं परन्तु चीनी इतिहासकारों तथा विद्वानों ने अपने यात्रा वृत्तान्तों, अनेक वंशों के इतिहासों तथा जीवनियों में इनके विषय में अनेक ग्रन्थों में लिखा है। आज उपलब्धचीनी इतिहास में 225 से अधिक भारतीय विद्वानों तथा लगभग 120 चीनी विद्वानों तथा भिक्षुओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं जिन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ यात्राएँ की।

चीन से भारत की यात्रा संकटों से भरी हुई थी। ये धर्माचार्य उत्तर में मध्य एशिया की मरुभूमियों को पार करके और दक्षिण में अथाह समुद्रों की लहरों पर विजय प्राप्त करके आते थे। सभी परम विद्वान्, साहसी, धर्म-निष्ठ, ज्ञान के पुजारी और उन्नति के साधक थे। ये सभी आचार्य स्वार्थ से सर्वथा अछूते तथा परार्थ हेतु त्याग और तपस्या के मार्गों पर चलने वाले थे। उत्तर में मध्य एशिया में न सुनिश्चित मार्ग

थे, न मार्ग में भोजन और पानी ही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। सैंकड़ों कोसों तक दिग्व्यायोहकारी मार्गों पर वे आचार्य भूखे-प्यासे चलते जाते थे। चीनी इतिहास के अनुसार अनेक बार इन आचार्यों के साथी मार्ग में आने वाली कठिनाइयों से पराजित हो परलोक सिधार गये। यहाँ तक कि ऊंट और घोड़े भी अनेक बार थक कर गिर जाते थे। कई बार मर भी जाते थे।

चार-धाम

भारत के समान चीन में भी चार-धामों की तीर्थयात्रा की परम्परा रही है। उनमें से एक है वूथाइ-शान जो शांक्सी नामक प्रान्त के वूथाई नामक पर्वत पर स्थित है। परम्परा के अनुसार जब काश्यप मातंग और धर्मरक्ष इस पर्वत पर पहुँचे तो उन्होंने सम्राट् से कहा कि यह स्थान मञ्जुश्री का है, यहां पर मन्दिर बनवाना चाहिए। धीरे-धीरे यह स्थान एक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया। यहाँ बड़े-बडे बौद्धउत्सवों का आयोजन किया जाने लगा। आज यहां 95 मन्दिर स्थित हैं और इसे यूनेस्को द्वारा विश्व की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में स्वीकार किया गया है। यह तीर्थ भारत-चीन के सांस्कृतिकसम्बन्धों का एक जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहां के कुछ स्थानों के नाम हैं- गृद्धराज पर्वत, नारायण, समन्तभद्र स्तूप, राहु मन्दिर आदि। कालान्तर में भारत से चीन जाने वाले अनेक विद्वान वूथाई-शान् पहुँचे और इस स्थान पर बड़ी संख्या में चीनी विद्वान् हुए जिन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

शीआन् नगर - संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद का केन्द्र

शीआन् नगर का प्राचीन नाम छाङान् है। यह 13 राजवंशों की राजधानी रह चुका है। यहां व्यापारिक समृद्धि और राजवंशों का वैभव अन्योन्याश्रित हो पुष्पित पल्लवित होतारहा। उसके साथ-साथ यह एक धर्मनगरी भी है। इस नगर में अनेक सम्राटों ने भारतीय एवं चीनी बौद्ध आचार्यों को राजकीय प्रश्रय दिया; उनके द्वारा संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवाद के कार्य करने हेतु हर संभव सुविधा प्रदान की; संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद करने के लिए सहस्रों की संख्या में देश भर से विद्वान् भिक्षुओं को बुलाने की विलक्षण व्यवस्थाएं की जाती रहीं। यहां स्थित विहारों में से एक है काओताङ् विहार। यहाँ बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों के लिए एक संस्थान की स्थापनाकी गयी थी। 401 ईसवी में याओ शिङ् नामक सम्राट् ने आचार्य कुमारजीव जैसे एक ऐसे महान् विद्वान्का स्वागत किया जिन्हें प्राप्त करने के लिए इन से पूर्व के सम्राट् ने कूचा राज्य में सेना भेज दी थी। जिस स्तूप में कुमारजीव के अवशेष सुरक्षित रखे गये हैं वहां आज तक श्रद्धालु श्रद्धा के दीप जलाते हैं।

श्वेन्त्साङ् (ह्यून त्साङ्)

चीन से भारत-यात्रा पर आने वाले विद्वानों में भारत में सबसे अधिक ज्ञात नाम श्वेन्त्साङ् का है। जब वे अपनी भारत-यात्रा के उपरान्त चीन लौटे तो उसकी पूर्व सूचना प्राप्त करते ही सम्राट् ने खोतान के राजा को एक पत्र लिखा तथा उसके साथ अपना शिष्ट मंडल भेजा ताकि श्वेन् त्वाङ् को सम्मानपूर्वक लाया जाया जा सके। उनके साथ भारत से 657 ग्रन्थ, बड़ी संख्या में मूर्त्तियां तथा बौद्ध अवशेष भी चीन पहुंचे थे। चीनी सम्राट् ने श्वेन्त्साङ् को अपने पास बुलाया और भारत के विषय में लम्बी चर्चा की।चीनी सम्राट् भारत का वृत्तान्त सुन कर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें अपनी भारत-यात्रा के संस्मरण लिखने के लिए कहा। चीनी सम्राट् श्वेन्त्साङ् को राजधानी में ही रखना चाहते थे। परन्तु उन्होंने सम्राट् से निवेदन किया कि वे नगर से कुछ दूर एकांत में संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करना चाहते हैं। शीघ्र ही सम्राट् के आदेशानुसार सभी व्यवस्थाएं की गयीं और यह अभूतपूर्व कार्य प्रारम्भ हो गया। सुदूर नगरों में लोग श्वेन्त्साङ् के दर्शन करना चाहते थे जो भारत की तार्थ-यात्रा करके लौटे थे। वे लोग उन सभी वस्तुओं के दर्शन का भी पुण्य प्राप्त करना चाहते थे जो वे भारत से लाये थे। इसलिए एक दिन श्वेन्त्साङ् द्वारा भारत से ले जायी गयी सभी प्रकार की सामग्रियों की शोभा यात्रा नगर में से निकाली

गयी। चीनी इतिहासकारों का कथन है कि दूर-दूर के विहारों से आ कर लोगों ने नगर को सजाया, उस समय इतनी भीड़ थी कि लोग एक दूसरे के ऊपर गिर रहे थे।

दीक्षा की परम्परा

विक्रमी सम्वत् 705 में सम्राट् काओत्सुङ् ने अपनी माता की स्मृति में एक भव्य विहार का निर्माण करवाया जिसका नाम है- थ्स-आन्-स्स। इसके सभी भवनों को पूर्ण वैभव से सुसज्जित किया गया। इसके उद्घाटन समारोह के समय 300 भिक्षुओं को दीक्षा दी गयी और 50 विद्वान् आचार्यों को विहार में निवास करने हेतु आमन्त्रित किया गया। इस विहार से श्वेन्त्साङ् ने संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया। उन्हीं की इच्छानुसार चीन में सप्तभूमिक विहार का निर्माण हुआ क्योंकि श्वेन्त्साङ् उस सारी सामग्री को एक ऐसे सुरक्षित स्थान पर रखना चाहते थे जहां उनकी अग्नि और लूट दोनों से रक्षा की जा सके। वे उसे भारतीय शैली में बनवाना चाहते थे। साथ ही साथ उनकी यह भी इच्छा थी कि इस विहार के सातों तलों पर बौद्ध आचार्यों के अवशेष सुरक्षित रखे जायें। श्वेन्त्साङ् की कामना की पूर्त्ति हेतु सम्राट् ने 108 हाथ ऊंचा स्तूप बनवाया जिसका नाम है थायेन्। अंग्रेजी में इसे कहा जाता है ठपह ॅपसक ळववेम चंहवकं अर्थात् वन-हंस महामन्दिर। यह सूत्र रक्षा मन्दिर भारत और चीन के सांस्कृतिकसम्बन्धों का अप्रतिम प्रतीक है।

चीन में भारतीय आचार्य

जो भारतीय आचार्य धर्म प्रचारार्थ चीन गये उनकी चीनी ऐतिहासिक अभिलेखों के अनुसार संख्या 225 से अधिक है। वे प्रायः नालन्दा, कश्मीर, तक्षशिला तथा दक्षिण भारत से गये थे। अनेक स्थलों पर उनके मध्यभारत से आने का भी उल्लेख मिलता है। इनमें गुजरात तथा अफगानिस्तान का भी उल्लेख आता है। इनके अथाह ज्ञान से चीनी सम्राट् से लेकर सामान्य जनता तक सभी आश्चर्यचकित थे। ये आचार्य साधारण से वस्त्र पहने, त्याग और तप के मार्ग पर चलते, स्वार्थपरता से कोसों दूर, जन-जन को मनुष्य से देवत्व की ओर ले जाने वाले दार्शनिक विचारों पर चर्चाएँ करते, सूखा पड़ जाने पर वर्षा करवा देते, असाध्य रोगों से मुक्ति दिलवा देते, सम्राटों को दया और करुणा का पाठ पढ़ाते, मन्त्र शक्ति द्वारा मृतप्रायः वृक्षों पर पुनः फूल खिलवा देते, आध्यात्मिक मार्ग से युद्ध में विजय दिलवाते, दीर्घायु और स्वस्थ जीवन जीने का मार्ग दिखाते थे। इन में से कुछ आचार्यों के नाम भारत-चीन सांस्कृतिक मैत्री के इतिहास में सदैव स्मरण रहेंगे। जैसे- कुमारजीव, बोधिधर्म, शुभकरसिंह, वज्रबोधि, अमोघवज्र आदि। इनके द्वारा प्रचार किये गये दर्शन के आधार पर अनेक सम्प्रदाय बने जो आज तक चीन को सांस्कृतिक पहचान दे रहे हैं।

कुमारजीव

कुमारजीव के पिता कश्मीरी पण्डित थे और माता मध्य एशिया के एक राज्य कूचा की राजकुमारी। पिता का नाम कुमारायण और माता का जीवा था। दोनों ही बौद्ध धर्म के मार्ग पर सश्रद्धया चल रहे थे। कुमारजीव अपनी माता से पे्ररित हो बचपन में ही ज्ञान मार्ग पर चल पड़े। नौ वर्ष की छोटी सी आयु में कश्मीर आये। उन्हें ऊँचे से ऊँचे विद्वान् का शिष्यत्व प्राप्त हुआ। कश्मीर के राजा तक समाचार पहुंचा तो उन्हें राजप्रासाद में शास्त्रार्थ हेतु बुलाया गया। वह छोटा सा बालक अपने ज्ञान के आधार पर पूर्ण आत्मविश्वास से प्रतिवादियों के साथ शास्त्रार्थ करने लगा और उन्हें परास्त कर दिया। यह देखकर राजा प्रभावित एवं प्रसन्न हुए, उन्होंने कुमारजीव का भव्य स्वागत कर राजकीय आतिथ्य दिया।

कुमारजीव वेदाध्ययन हेतु काशगर गये। आज तक चीनी मानचित्रों में काशगर को काशी भी लिखा जाता है। वहां उन्होंने चारों वेद, पंचविघा, आदि अनेक शास्त्रों का भी अध्ययन किया। कूचा लौटने पर राजप्रासाद में 20 वर्ष की आयु में वे भिक्षु बन गये।

कुमारजीव के ज्ञान की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैलने लगी। पूर्वी छिन् वंश के सम्राट् ने कूचा के राजा से कई बार अनुरोध किया कि वे कुमारजीव को उनके राज्य में भेज दें परन्तु जब उन्होंने स्वीकार नहीं किया तो उन्होंने 70,000 सैनिक भेज कर कूचा पर आक्रमण कर डाला। एक लम्बी यात्रा के उपरान्त 17 वर्ष में कुमारजीव छांगान् पहुंचे। वहां उनके लिए संस्कृत ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद हेतु सभी प्रकार के प्रबन्ध किये गये। 3000 से अधिक भिक्षु चीन के अनेक प्रान्तों से आते थे, किसी भी ग्रन्थ का अनुवाद पूर्ण हो जाने पर उसकी प्रतियां कर अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते थे और उस ग्रन्थ के दर्शन का प्रसार करते थे। उन्होंने 74 ग्रन्थों का ऐसा विलक्षण अनुवाद किया कि पांचवीं शताब्दी से आज तक सम्पूर्ण पूर्वी एशिया में बौद्ध जगत् में कुमारजीव जीवित हैं।

शिलालेखों की छाप

चीन में यह परम्परा रही है कि बौद्ध ग्रन्थों को अमर करने के लिए शिलाओं पर खुदवा दिया जाता था। एक अन्य प्रयोजन यह भी था कि चाहे कोई भी व्यक्ति उनकी छाप बनवा सकता था। इसके लिए सर्वप्रथम शिलालेख को एक ब्रश से धो कर कपड़े से सुखाते हैं। फिर एक दिन पहले पानी में भिगोये हुए पतले कागज़ को बड़ी सावधानी से साथ शिलालेख पर लगा दिया जाता है। फिर पानी के छींटे डाल कर एक कठोर ब्रश से थपथपाया जाता है। और फिर एक लकड़ी के फलक पर काली मसिः लगा दी जाती है। फिर उसे शिलालेख पर थपथपाया जाता है। इस प्रकार शिलालेख का एक-एक अक्षर पत्र पर अंकित हो उठता है।

चीनी त्रिपिटक

त्रिपिटक चीन की अमूल्य धरोहर है। इसमें महायान और थेरवाद के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों पर ग्रन्थ हैं। युञ्जु नामक विहार में सुरक्षित पत्थरों पर उत्कीर्ण ये ग्रन्थ चीन कीअप्रतिम धरोहर हैं। यहां पर कुल 14218 शिलाएं हैं जिन्हें उत्कीर्ण करने का कार्य सर्वप्रथम भिक्षु जिम्वान् ने प्रारम्भ किया था। समय-समय पर चीनी सम्राटों ने त्रिपिटक का प्रकाशन कर पुण्य प्राप्त किया। सुंग, युवान् और मिंग वंशों के काल में त्रिपिटक के अनेक संस्करण निकले। पहले बौद्ध ग्रन्थों की प्रतियाँ हाथ से की जाती थींक्योंकि काष्ठ फलकों के माध्यम से ग्रन्थ मुद्रण की परम्परा दसवीं शताब्दी तक ही सामान्य रूप से प्रचलन में आ सकी थी। चीसा संस्करण में 7000 खण्ड हैं। इसके इतिहास के अनुसार एक भिक्षुणी ने काष्ठ फलकों पर त्रिपिटक की खुदाई आरम्भ की और अन्य भिक्षुओं ने उसका सहयोग किया। इस कार्य को पूर्ण करने में 138 वर्ष लग गये। इस संस्करण के अन्तिम भाग में उन सभी के नाम दिये गये है जिन्होंने इन लकड़ी के मुद्रण फलकों की खुदायी के कार्य में सहयोग किया। मिङ् संस्करण में 2000 खण्ड हैं। सम्राट् छेन् लुंग के समय में प्रकाशित त्रिपिटक अन्तिम राजकीय संस्करण है जो सबसे अधिक सम्पूर्ण माना जाता है।

अमोघवज्र द्वारा राष्ट्र-रक्षा-अनुष्ठान

अमोघवज्र नामक भारतीय-सिंहली आचार्य को तीन चीनी सम्राटों का प्रश्रय प्राप्त हुआ, वे राजगुरुके पद पर आसीन हुए। वे समुद्री मार्ग से अपने गुरु वज्रबोधि के साथ सबसे पहले गुआंगजोऊ नामक नगर में पहुंचे तो वहां के राज्यपाल ने कुछ समय के लिए उन्हें वहीं धर्म प्रचार हेतु रोक लिया। वे अपने साथ प्रज्ञापारमिता आदि बौद्ध ग्रन्थ, सूती वस्त्र तथा अन्य अनेक भेंटें श्रीलंका के राजा की ओर सेले गये थे। गुआंगज़ाऊ में सैंकड़ों लोगों ने बुद्ध भगवान् के दिखाये हुए मार्ग को स्वीकार किया। शीघ्र ही थाङ् सम्राट् जिआन्जॉङ् की ओर से उन्हें निमन्त्रण प्राप्त हुआ। ई०स० 764 में थाङ् राज्य पर तिब्बत की ओर से आक्रमण के संकट के बादल छा रहे थे तो सम्राट् दाईजोङ् के अनुरोध पर अमोघवज्र ने विजय प्राप्ति हेतु ट्टशाक्य-विजय-सूत्र' का पाठ किया। सम्राट् स्वयं छांङान् गये और अनुष्ठान में उपस्थित हुए। जैसे ही संकट समाप्त हुआ तो उन्होंने अमोघवज्र से उसका अनुवाद करने

को कहा अमोघवज्र चीनी इतिहास में एक ऐसे महान् व्यक्ति के रूप में अंकित हैं जिन्होंने अज्ञान के अंधकार को दूर किया, दुरात्माओं से राष्ट्र की रक्षा की, देश पर आने वाले अनेक प्रकार के संकटों से उसे बचाया तथा आनन्द का वातावरण बनाया। उसके लिए सम्राट् ने कई भिक्षुओं को उनके सहयोगी के रूप में नियुक्त किया और स्वयं उस सूत्र के अनुवाद की भूमिका लिखी। उन्होंने उस में वर्णन किया कि किस प्रकार शाक्य-विजय-सूत्र के पाठ से युद्ध का संकट टल गया और राज्य में शान्ति एवं सौहार्द की स्थापना हो सकी। उन्होंने आगे लिखा कि इस प्रकार की भारतीय आध्यात्मिक शक्ति से चीन को लाभ हुआ। राज्य में कुछ अशुभ होने का भय हुआ तो सम्राट् ने अमोघवज्र को वूथाई शान नामक पर्वत पर स्थित मन्दिर में पुण्य कार्य करने के लिए भेजा। वहां उस अनुष्ठान में 10,000 चीनी एकत्रित हो गये। लौटने पर बड़ी संख्या में सैनिक और जनता ने बौद्ध धर्म की दीक्षा प्राप्त की। अमोघवज्र सम्राट् के इतने निकट आ चुके थे कि उन्हें एक महान् त्रिपिटकाचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया। उनके स्वर्गवास पर तीन दिन राजकीय शोक घोषित किया गया। राजा ने स्वीकार किया कि वे उनके गुरु और सहयोगी दोनों थे।

योग-परम्परा

चीन में योग-परम्परा का प्रारम्भ दूसरी शताब्दी में ही हो गया था। आन् शिहकाओ नामक विद्वान् ने आनापानसती सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उस समय की राजधानी लोयाङ् जाकर उन्होंने अपने शिष्यों को थेरवादी परम्परा से ध्यान लगाना सिखाया। उस के पश्चात् एक अन्यचीनी विद्वान् ने सूरंगम-समाधि सूत्र का चीनी में अनुवाद कर महायान शैली में ध्यान की परम्परा को स्थापित किया। तीसरी-चौथी शताब्दी में अन्य अनेक भारतीय और चीनी विद्वानों ने ध्यान के ग्रन्थों का अनुवाद किया इसके साथ अनेक भिक्षुओं ने योग के मार्ग पर चल कर स्वस्थ एवं सुदीर्घ जीवन प्राप्त किया। पांचवी-छठी शताब्दी में भारत के पश्चिमी भाग से गुणभद्र, गुणवर्मन्, धर्ममिश्र आदि आचार्य चीन पहुंचे। छठी शताब्दी में आचार्य बोधिधर्म चीन गये। उन्होंने 9 वर्ष तक चीन में ध्यान मार्ग का प्रचार कर उसे एक सुदृढ़ नींव पर खड़ा कर दिया।

चीन के एक विद्वान ताओ योंजिङ् ने (452-536 CE) ने प्राणायाम के माध्यम से दीर्घायु तथा अनेक रोगों से मुक्ति के उपाय संक्षेप से लिखे। इस युग में भिक्षु दीर्घायु और स्वस्थ जीवन के उपायों का अध्ययन करने लगे। पांचवी-छठी शताब्दी में एक उत्तर भारतीय विद्वान् बोधिरुचि चीन पहुँचे। उनके ज्ञान से चीनी इतने स्तब्ध हो गये कि भिक्षु तान्लुआन् ने तो अमरता पर लिखे ताओ ग्रन्थों को जला दिया और बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और अपना शेष जीवन प्राणायाम पर पुस्तकें लिखने में बिता दिया। चीनी विद्वानों ने विपश्यना पर भी पुस्तकें लिखीं। बौद्ध धर्म के अहिंसा तथा आत्मज्ञान के मार्ग पर चलते-चलते शाकाहार का प्रचलन होने लगा। छान् सम्प्रदाय के भिक्षुओं ने निरामिष भोजन अर्थात् मांस खाना बन्द कर दिया। आधुनिक युग में बड़ी संख्या में चीनी विघार्थी योग के प्रशिक्षण हेतु भारत आते हैं।

पिछली दो सहस्राब्दियों ने भारत और चीन के मध्य एक सुदृढ़ त्याग, तप एवं ज्ञान से निर्मित सांस्कृतिकसेतु का निर्माण किया है। आज भी चीन की संस्कृति भारतीयता से ओत-प्रोत है। शासन के द्वारा बड़ी संख्या में जीर्ण-शीर्ण विहारों और मन्दिरों की सुरक्षा एवं पुननिर्माण किया जा रहा है। न जाने कितने विद्वान् इस इतिहास के अनुशीलन में तन्मयता से जुटे हुए हैं। चीनी जनता भारत के विषय में अधिक से अधिक जानने को आतुर हैं। आवश्यकता है दोनों देशों के मध्य विघार्थी और विद्वानों, कलाकारों और इतिहासकारों के साथ-साथ जन-जन के सम्पर्क को और अधिक गति दी जाये। दोनों देशों के मध्य प्रगाढ़ सांस्कृतिकसम्बन्ध एशिया ही नहीं विश्व में शान्ति एवं सौहार्द स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकेंगे।

संदर्भ

1. लोकेश चंद्र, इंडिया एंड चीन, इंटरनेशनल एकैडेमी ऑफ इंडियन कल्चर, आदित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
2. केनेथ के एस चेन, बुद्धिज्म इन चीन, ए हिस्टोरिकल सर्वे, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, न्यू जर्सी, 1973
3. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडिया एंड चीन, कल्चरल कॉन्टेक्ट्स, मैक्सपोजर मीडिया ग्रुप (इंडिया) प्रा. लि., 2014
4. लतिका लाहिरी, चाइनीज मोंक्स इन इंडिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986
5. चीनी त्रिपिटिक का ताइशो संस्करण, तकाकुसु जुंजिरो एंड वाटानेब काइग्योकु, टोक्यो, 1924-29
6. तारा चंद्रिका, कल्चरल होराइजन्स ऑफ इंडिया, इंटरनेशनल एकैडेमी ऑफ इंडियन कल्चर, आदित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
7. ई. जुर्चर, द बुद्धिस्ट कॅन्क्वेश्ट ऑफ चीन, लीडेन, इ. जे. ब्रिल, 1972

चीन-भारत सम्बंध के मिथक व प्रभाव (रामायण काल से अब तक)

✍ विवेक भटनागर

लेखक वरिष्ठ पत्रकार और इतिहासविद् हैं।

भारत और चीन सांस्कृतिक रूप से साझी विरासत, जनजीवन में व्यापक समानता। जीने की कला में एक दूसरे के पूरक। फिर भी एक दूसरे के प्रति मिथक साहित्य और जीवन दोनों में सम्मिलित हो गए। भारत में चीन और चीन में भारत मिट्टी से लेकर यंत्रों तक सम्मिलित हैं। बावजूद इसके चीन से भारत की सीमा 1949 से पूर्व कभी नहीं जुड़ी। तिब्बत भारत और चीन के बीच आदिकाल से ही शांति क्षेत्र के रूप में बना रहा। तिब्बत में स्थित कैलाश पर्वतमाला और मानसरोवर का भारत और चीन दोनों के आस्तिक और सामाजिक जनजीवन में महत्व रहा है। चीन और तिब्बत में कैलाश को केंग रिंपोछे कहा गया है, वहीं स्वान रिम्पोछे के नाम से मानसरोवर पुकारा गया है। भारत-चीन-तिब्बत के सभी आस्था और दार्षनिक पंथों में कैलाश और मानसरोवर का महत्व है। यूरोपियन रिकॉर्ड के अनुसार चीन और भारत के बीच सम्पर्क का पहला प्रमाण ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का है। इसके लिए अशोक के अभिलेखों को आधार बनाया गया। इसके अलावा श्रीलंका के बौद्ध शास्त्र दीपवंश से पता चलता है कि अशोक ने धर्मरक्षित को तोखरिस्तान (बैक्ट्रिया) भेजा। वहीं श्रीलंका के ही दूसरे बौद्ध शास्त्र महावंश में बौद्ध विद्वान धर्मरक्षित को यवन मूल का बताया गया है। उन्हें ग्रीस (यूनान) भी भेजा गया था। महावंश के अनुसार भिक्षु मज्जिम को हिमवंत प्रदेश अर्थात् हिमालय के पार तिब्बत और चीन भेजा गया।

इन्ही ग्रंथों से पता चलता है कि अशोक की पुत्री संघमित्रा व पुत्र महेन्द्र को श्रीलंका भेजा गया। इस प्रकार चीन से सम्पर्क होने के प्रमाण श्रीलंका के दो ग्रन्थों महावंश और दीपवंश से मिलते हैं। भारत से चीन के सम्बंध जब इन क्षेत्र से अभिलेखों और पुस्तकीय प्रमाणों से पता चलते हैं तो इनसे यह भी पता चलता है कि चीन और तिब्बत के साथ ही हिमालय पार के अन्य क्षेत्र भी एक सम्प्रभुता का अधिकारी जीते हैं। नीचे जितने भी संदर्भ और विवरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं सभी प्रमाणित करते हैं कि चीन का सीधा सम्पर्क कभी भी हिमालय के पार भारतवर्ष से नहीं रहा। वह हमेशा ही तिब्बत को अपने अधिकार में करने का प्रयास करता रहा लेकिन ऐसा करने में विफल होने के बाद कोरियाई क्षेत्र से उत्तर पश्चिम तक करीब 800 वर्ष में एक दुर्ग का निर्माण कर चीन ने स्वयं के प्रदेशों को पार हिमालयी देशों से अलग कर लिया। यहां तक की मंचूरिया भी इस दुर्ग से मूल चीन से अलग हो जाता है। ऐसे में चीन का भारतीय क्षेत्रों पर दावा हर प्रकार से गलत और भ्रामक है। चीन द्वारा बनाया गया यह दुर्ग ही चीन की दीवार है। अपने उत्कर्ष पर मिंग राजवंश ने 14वीं सदी में चीन की दीवार पर करीब 10 लाख सैनिकों को सुरक्षा के लिए नियुक्त किया। इससे भी स्पष्ट होता है कि चीन का विस्तार सिर्फ वर्तमान पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइन के दक्षिणी पुर्वी हिस्से तक ही सीमित था।

चीन का वास्तविक भूगोल

उस समय चीन का भौतिक स्वरूप वर्तमान चीन के दक्षिणी भाग के यांगटिसी और सिक्यांग तथा मिकांग नदी घाटी क्षेत्र ही है। वैसे भी अगर चीन की दीवार को ही देखें, जो 8वीं सदी ईसापूर्व से 16वीं सदी तक बनती रही, का विस्तार चीन को कोरिया, मंचूरिया और तिब्बत से अलग करती है। इससे भी आसानी से समझ में आता है कि चीन का भारत से सीधा सम्पर्क व्यापारिक मार्ग के माध्यम से या समुद्री मार्ग से रहा लेकिन प्रत्यक्ष सम्पर्क का पहला प्रमाण नीलमत पुराण से और फिर राजतरंगिणी से मिलता है। दोनों में ही ललितादित्य मुक्तापीड का चीन सीमा तक हमले और फिर संधि का विवरण मिलता है।

इसके अलावा भारत और चीन में व्यापार उत्तरापथ से हो रहा था, इसे बाद में जर्मन और अन्य यूरोपीय इतिहासकारों ने सिल्करोड कह कहकर दरद (कश्मीर का कुछ भाग और गिलगित-बाल्टिस्तान का दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्र), तुखारा (बैक्ट्रिया या बदख्शां), तिब्बत (बोट) की संस्कृति को भारत से अलग करने का प्रयास किया। बौद्ध धर्म के प्रसार से पहले चीन का भारत से कुछ सम्पर्क रहा इसके प्रमाण पुरातत्व के माध्यम से मिलते हैं और अरिकमेडु, कांची (हुआंग-चे) में चीन से व्यपार का पुख्ता प्रमाण मिलते हैं। इसके बारे में चिनस नामक लोगों का संदर्भ भारत पुरातन साहित्य में मिलता है। जबकि तिब्बत के लोगों के लिए बोट, कुंतल और किरात जैसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है। महाभारत में चीन पर चर्चा मिलती है। वहां के किन राजवंश का वर्णन भी मिलता है। मौर्य युग में अर्थशास्त्र के रचयिता और मौर्य सम्राज्य के निर्माण के विचारक चाणक्य ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में लिखा है कि चीन से रेशम का आयात होता था और सिनामसुका के नाम से जाना जाता था। चाणक्य चीन से आने वाले रेशम की गठरी को सिनपत्ता के नाम से सम्बोधित करते हैं। ग्रेंड हिस्टोरियन रिकॉर्ड्स में झांग कियान (113 ईसा पूर्व) और सिमा कियान (145-90 ईसा पूर्व) में 'शेंदू' शब्द का प्रयोग सम्भवतः सिंधु घाटी के बारे में करते हैं। जब पहली शताब्दी में हान वंश युन्नान पर अपना अधिकार करते हैं तो वहां के चीनी अधिकारी यून्नान में रहने वाले शेंदु समुदाय के बारे में हान राज को सूचना भेजते हैं।

कनिष्क के काल में चीन और उसका विस्तार

वहीं सम्राट कनिष्क के शासन में चीन और भारत का सीधा सामना होता है। कनिष्क चूंकि मूल रूप से बैक्ट्रिया (उत्तरी अफगानिस्तान) का निवासी था इसलिए उसका सारा ध्यान खोतान, तारिम बेसिन और मध्य एशिया कि क्षेत्रों पर रहा। उसने अपना साम्राज्य उत्तर-पश्चिम आमू दरिया (ऑक्सस रिवर) से भारत के तारई से नीचे तक फैला लिया था। पूर्व में तिब्बत और तारिम बेसिन उसके साम्राज्य की सीमा बनाते थे। उसकी प्रथम राजधानी सांकल (सियालकोट) और दूसरी मथुरा थी। राबातक शिलालेखों के अनुसार उसका सम्राज्य पाटलिपुत्र एवं श्रीचम्पा तक विस्तृत हो गया था। आधुनिक चीन के खोतान प्रान्त से भी कनिष्क के सिक्के प्राप्त होते हैं। बुक ऑफ द लैटर हान, हौ हान्शु से ज्ञात होता है कि चीनी जनरल पान चाओ ने 90 ईस्वी में खोतान के निकट कनिष्क की 70,000 सैनिकों की सेना से युद्ध किया, जिसका नेतृत्त्व कुषाण जनरल जाई ने किया था। चीनी रिकॉर्ड में पान चाओ के विजयी होने का दावा किया गया है, वहीं भारतीय स्रोत और राबातक शिलालेख कुषाण सेना की विजय का वर्णन करते हैं। वहीं दूसरी शताब्दी तक इस क्षेत्र कुषाणों का अधीन रहना भी चीनी संदर्भों को गलत साबित करता है। चीन 127 ईस्वी में सिर्फ नहीम ही वापस ले सका, जबकि कुषाणों का साम्राज्य काशगर, खोतान व यारकंद तक विस्तृत रहा। इससे स्पष्ट है कि तारीम बेसिन के चीनी क्षेत्र (आधुनिक जिनजियांग) कुषाणों के आधिपत्य में रहे थे। कनिष्क के समय के कई सिक्के तरीम बेसिन में से भी मिलते हैं। कनिष्क ने व्यापार और सामरिक महत्व को समझते हुए, उत्तरापथ या कथित रेशम मार्ग और दक्षिणापथ यानी समुद्री मार्ग, दोनों पर ही अधिकार बनाये रखना उचित समझा और वह अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल भी रहा।

यात्रा वृतांत में टूटते चीन के मिथक

भारत और चीन के रिश्तों में यात्रा वृतांत बड़े महत्वपूर्ण है। 1945 के पूर्व तक चीन में भारत के प्रति सम्मान और अपने सभी विश्वासों और समस्याओं के हल का केन्द्र भारत को मानने की परम्परा सी बन गई थी। चीन में कम्युनिस्टों के उभार और माओ के नास्तिकवादी विचार और अधिनायकवादी शासन ने भारत के प्रति अविश्वास पैदा किया। इसका प्रमुख कारण था, चीन के जनमानस से आस्थावादी दर्शन को समाप्त कर सिर्फ माओ में आस्था पैदा करना। इसका परिणाम यह निकला की चीन ने मिथकों का रचना प्रारम्भ किया और भारत से अपने सांस्कृतिक रिश्तों के तारों की बुनाई को काटना शुरू किया। वर्तमान में प्रचारित मिथकों को हम विभिन्न चीनी यात्रियों के वृत्तांत से जोड़ सकते हैं।

फाह्यान का भारत वर्णन और चीनी क्षेत्र

भारत चीन के रिश्ते और चीन सीमा का रिश्ता भी अनवरत चलता है। गुप्त शासक चन्द्रगुप्त के शासन के दौरान चौथी-पांचवीं शताब्दी में चीन से एक बौद्ध भिक्षु फाह्यान भारत की यात्रा करता है। वह अपने यात्रा वृत्तान्त में चीन से भारत तक के आने के मार्ग को वह उत्तरापथ के नाम से वर्णित करता है। उत्तरापथ के अलावा बोट, तारिम बेसिन और बैक्ट्रिया के कई क्षेत्रों का वर्णन वह अपने यात्रा वृत्तांत में करता है। वह चीन के शांग्सी प्रदेश के पिंग गयांग से अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है और मध्य एशिया से होता हुआ भारत में प्रवेश करता है। वह तिब्बत और तारिम बेसिन के अलावा सभी क्षेत्र और भारत की सम्प्रभुता का हिस्सा बताता है और तिब्बत का वर्णन एक सम्प्रभु राज्य के रूप में करता है। वह लिखता है कि सर्द रेगिस्तानों और विषम पहाड़ी दर्रों से गुजरते हुए उसने भारत में प्रवेश किया और पश्चिमोत्तरी क्षेत्र में उत्तरापथ से होते हुए पाटलीपुत्र पहुंचा। उसने अशोक के 385 स्तम्भों का उल्लेख किया है। पाटलीपुत्र से वह दक्षिण में श्रीलंका भी गया। उसने श्रीलंका के निवासियों को दैत्य और अझदहे यानी ड्रैगन कहकर सम्बोधित किया।

स्थान-स्थान से एकत्रित किए गए बौद्ध ग्रन्थों और प्रतिमाओं लेकर वह चीन पहुंचा और आधुनिक शानदोंग प्रान्त में लाओशान पहुंचा। फिर शानदोंग की उस समय की राजधानी चिंगझोऊ नगर में उसने एक वर्ष तक रूककर अपने साथ लाई गई सामग्री को व्यवस्थित और अनुवादित किया। पहली शताब्दी के बाद से ही भारतीय विद्वानों की चीन यात्रा और चीन भिक्षुओं की भारतयात्रा अनवरत जारी रही है। इसके समानान्तर तिब्बत से भी लामाओं और भिक्षुओं का आना-जाना जारी रहा। इससे यह भी प्रमाणित होता रहा कि तिब्बत और चीन की सम्प्रभुता हमेशा से अलग रही। चीन से आने वाले विद्वानों में बातुओ (464-495 सीई) का नाम उल्लेखनीय है। वहीं भारतीय बौद्ध विद्वान बोधिधर्म पाँचवीं-छठीं शताब्दी में चीन पहुंचे और वहीं के होकर रह गये। वहां वे शाओलिन मठ और चीनी बौद्ध पंथ जेन के मठाधीश बने। बौधिधर्म समुद्री मार्ग से चीन पहुंचे थे। छठी-सातवीं में युआनजेंग (ह्वेनत्सांग 604 ईस्वी) और इत्सिंग (635-713 ईस्वी) ने भारत की यात्रा की और नालंदा विश्वविद्यालय के छात्र रहे। ह्वेनत्सांग ने पश्चिमी क्षेत्रों पर ग्रेट तांग रिकॉर्ड की भी रचना की और इसमें अपना यात्रा वृतांत भी लिखा। इस पुस्तक से प्रभावित होकर मिंग राजवंश पर एक उपन्यास 'जर्नी ऑफ वेस्ट' वू चेंग एन ने लिखा।

दक्षिण भारत के राजवंशों से चीन के सम्बंध

चीन और दक्षिण भारत के चोल राजवंश में रिश्ते विशेष रहे। दोनों ने एक-दूसरे के दरबारों में राजदूत भेजे। इस दौरान दोनों देशों में व्यापार भी बढ़ा। यह व्यापार अधिकतर समुद्री मार्ग से हुआ। चोलों की राज्य के प्रमुख शहरों तंजावुर, तिरुवरुर और पुदुक्कोट्टई से प्राचीन चीन के सिक्कों का मिलना इसका भारतीय प्रमाण है। राजराज चोल और उसके बेटे राजराजेंद्र चोल ने चीन के गीत वंश के से प्रगाढ़ व्यापारिक सम्बंध स्थापित किए। चौल नौसेना ने 1012-1044 ईस्वी के बीच श्रीविजय (मलेशिया और इंडोनेशिया का क्षेत्र) को जीता और चीन तक निष्कंटक समुद्री मार्ग अपने अधिकार

में रखा। वहीं कई स्रोतों में चीन में बौद्ध धर्म के जेन मठ के संस्थापक बौधिधर्म को पल्लव राजकुमार के रूप में वर्णित किया गया है।

तांग राजवंश और हर्षवर्धन

सातवीं शताब्दी में चीन के तांग राजवंश ने सिल्क रोड और मध्य एशिया के बड़े हिस्सों पर नियंत्रण करने का प्रयास किया। इसमें सबसे बड़ी समस्या भारत के उत्तरापथ का राजा हर्षवर्धन था। तांग शासक वांग ज़ुआंस ने इसके लिए एक राजनायिक शिष्टमण्डल भारत भेजा। इस समय उत्तर भारत सम्राट हर्षवर्धन (590-647 ईस्वी) के निधन के बाद अस्थिरता की स्थिति बनी हुई थी। इन हालात में विद्रोहियों ने इस शिष्टमण्डल के 30 सदस्यों की हत्या कर दी। तांग के गजट के अनुसार वांग नेपाली और तिब्बती सैनिकों की मदद से वापस कन्नौज की ओर आया और उत्तरापथ की राजधानी शहर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। वांग की सेना के उप प्रमुख जियांग शिरेन ने कुछ विद्रोहियों को गिरफ्तार कर चंगान सम्राट ताइज़ोंग (599-649 ईस्वी) के दरबार में भेज दिया। आठवीं शताब्दी में भारत के प्रसिद्ध खगोलविद आर्यभट्ट (476-550) द्वारा लिखित गणना चक्र और चिह्न का अनुवाद किया गया और चीन की खगोलीय व गणितीय पुस्तक काई-युआन का संकलन काई-युआन जेनजिंग के नाम से 718 ईस्वी में किया गया। काई-युआन जेनजिंग का संकलन गौतम सिद्ध नामक विद्वान ने किया। उसके बारे में चीन लोक में प्रसिद्ध है कि वह भारतीय मूल ज्योतिषी था और खगोल विज्ञान का महान विद्वान था। चीन के नवग्रह पंचांग का भी संस्कृत से मंदारिन भाषा में लिप्यांतरण गौतम सिद्ध ने ही किया था। (संदर्भ 22 देखें)

मद्रासी व्यापारी का चीन जाना

युआन वंश के शासन के दौरान माबर (मद्रास) का एक मुस्लिम व्यापारी अबू अली चीन गया। उसके बारे में प्रसिद्ध है कि वह माबर के राजवंश का निकटस्थ था और सत्ता परिर्वतन के कारण खुद को बचाने के लिए वह चीन चला गया। वहां उसने एक कोरियाई महिला से विवाह किया और युआन सम्राट की सेवा में लग गया। इस महिला का पहला पति सांगा था, जो तिब्बती था और चीन सम्राट के दरबार में उंचे पद पर था। तमिल हिन्दू व्यापरियों ने युआन वंश के शासन के दौरान चीन में व्यापार किया। उनका मुख्य केन्द्र क्यूआन जाओ था। क्यूआनजाओ से आज भी हिन्दू मूर्तियां प्राप्त होती है।

एक व्यापारिक शिष्टमण्डल की 15वीं सदी में भारत यात्रा

मिंग राजवंश के शासन के दौरान एक व्यापारिक शिष्टमण्डल ने 1405 से 1433 के बीच भारत की यात्रा की। इसके यात्रा का नायक चीन एडमिरल झेंग हे था। यह सात नौसैनिक अभियानों की राज्य द्वारा प्रायोजित शृंखला थी। झेंग ने कई भारतीय राज्यों के साथ बंदरगाहों जैसे माबर, सुप्पारक (सोपारा), बेरिगाजा या देवल (कराची), भारूकच्छ (भड़ौच) साथ ही फारस की खाड़ी, बगदाद होते हुए अरब प्रायद्वीप के बंदरगाहों से आगे बढ़कर कदम मालिन्दी (केन्या) की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान झेंग ने चीन उपहारों जैसे चीनी रेशम, चीनी मिट्टी के बर्तन और अन्य समान वितरित किए। इससे स्पष्ट होता है कि चीन का सम्बंध अरब सागर के अन्य देशों से इससे पूर्व सिर्फ थल मार्ग से रहा। इसलिए मिंग सम्राट को व्यापारिक शिष्टमण्डल की पूरी शृंखला के तहत इन देशों से व्यापारिक सम्बंध समुद्र मार्ग से बनाने पड़े। वैसे झेंग को भी इन देशों से जेबरा, जिराफ, हीरे और कई अन्य मूल्यवान सामग्री मिली। झेंग हे ने भी इन क्षेत्रों के स्थानीय देवताओं का सम्मान किया। श्रीलंका में बुद्ध, अल्लाह और विष्णु के सम्मान में एक स्मारक बनवाया। यह स्मारक गॉल में है और एक त्रिभाषा अभिलेख भी मिलता है। इसके साथ ही बंगाल ने 1405 से 1439 के बीच नानजिंग में बारह शिष्टमण्डल भेजे। (संदर्भ 21 देखें)

चीन और मौर्य पूर्व भारत

चीनास शब्द का उल्लेख प्राचीन भारतीय वांग्मय में बार-बार आया है। चीन का नाम संस्कृत से निकला हुआ माना जाता है। यह शब्द किन का लिप्यांतरण है। वहीं ग्रीस और रोम में चीन को सिना

या सिने के नाम से सम्बोधित किया है। हालांकि ज्योफ वेड अपनी पुस्तक में दावा करते हैं कि चीन का नाम जिंग राज्य से बना है। इसके साथ ही तर्क देते है कि चीन में येलंग नाम के राजनीतिक दर्शन से स्थापित होता है कि प्राचीन काल में चीन का वास्तविक क्षेत्र वर्तमान पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना के गुईझोंग प्रांत मात्र ही था। इस क्षेत्र के निवासी का नागरिक नामकरण जिना था। इसी कारण यह क्षेत्र जिन या जेन के नाम से भी जाना गया और आगे चलकर चीन कहलाया। हालाँकि वेड का यह दावा मिथ्या है यह हम महाभारत में चीन और चीनी शब्द के प्रयोगों से समझ सकेंगे।

महाभारत में चीन

भारतीय महाकाव्य महाभारत में चीन की चर्चा मिलती है। भारतीय कालगणना के अनुसार महाभारत का समय 5000 वर्ष से अधिक पुराना है। यहां पर भीष्म पर्व में चीन का उल्लेख एक जनजाति के रूप में आता है। इसमें बताया गया है कि चीना जनजाति के लोग किरात के साथ प्राग्यज्योतिष के शासक भगदत्त की सेना में शामिल है। सभापर्व में कहा गया है कि कुछ राज्य किरात और चीना जनजाति से सीमा बांटते हैं। वहीं भीष्म पर्व में मलेच्छों के साथ चीना को शामिल किया गया है। मलेच्छों में यवन कम्बोज, कुंतल, हूण, पारसिक, दारूण, रामाना और दशमालिका को जोड़ा गया है। यूरोपीय इतिहासकारों का दावा है कि यह वर्णन महाभारत में पांचवीं-छठीं शताब्दी में शामिल किया गया है, क्योंकि हूणों का सासानिद और भारतीयों से पहला मिलन इसी समय होता है। वहीं भारतीय वांग्मय में यह समय पांच हजार साल पुराना है।

महाभारत के शांति पर्व में भी चीना को उत्तरापथ की अन्य जातियों यवन, किरात, गंधार, शबर, बर्बर, शक, तुषार, कनक, पहलव, आंध्र, मेड्रक, दस्यु रामात और कम्बोज के साथ रखा गया है। इसके साथ ही इनके कार्यों को शुद्र के समान नहीं बताकर क्षत्रीय के समान बताया गया है। वहीं वन पर्व में बताया गया है कि चीना के क्षेत्र में उत्तर के पर्वतीय क्षेत्रों में किरातों के देश से एक भू-मार्ग से पहुंचा जाता था। इस प्रकार उत्तर के राज्य के रूप में चीन का उल्लेख महाभारत में किया गया है।

उत्तर की जनजातियों में मलेच्छ में कुर्रा, यवन, चीना, कम्बोज, दारूण आदि को शामिल किया गया है। सुर्कीतवाह, कुंतल, हूण, पारसिक, रामणा, और दशमालिका भी मलेच्छों के समान माने गए हैं। चीना को चिवुक, पुलिंद, खास, हून, पहलव, शक, यवन, सवर, पुण्ड्र, किरात, कंची, द्रविड़, सिंहल और केरलपुत्र के साथ शामिल किया गया है। ये सभी जनजातियां मलेच्छ के तौर पर स्वीकारी गई है। इन सभी को क्षत्रिय के रूप में स्वीकारा गया है और वशिष्ठ की कामधेनु नंदिनी को हथियाने के लिए आए राजा विश्वामित्र से इन्होंने युद्ध कर उन्हें पराजित किया। पह्लव, दरद, किरात, यवन और शकों की अन्य जातियां हारहूण, तुखार, सैंद्धव, जगद, रामत, मुंडा, मालव, कस्मिरा और स्त्री राज्य के निवासी तंगना व केकैय का वर्णन भी महाभारत में आता है। चीन के साथ ही इन सभी को आर्यावर्त से परे बताया गया है और इनसे युद्ध करना श्रेष्ठ नहीं माना गया है। (पंडित गंगा प्रसाद शास्त्री, महाभारत भाग 6, अध्याय 9, महाभारत प्रकाशक मण्डल, चांदनी चैक दिल्ली)

बद्री (ब्रदीनाथ) से आगे बढ़कर पाण्डवों ने कठिन हिमालय को पार कर तुखार, दरद, चीन और अति समृद्ध कुलिंड की सेनाओं का पराजित कर पुलिंद राजा सुबाहू की राजधानी पहुंचे। भीम का उल्लेख चीन में राज धौतमुलाक के रूप में किया गया है। वह अपनी ही जाति के विनाष का कारक बताया गया है। धौतमुलाक का अर्थ शुद्ध रक्त से लिया गया है और इसकी तुलना चीन के अंतिम जिया सम्राट 'जी' (1728-1675 बीसीई) से की गई है। जब कृष्ण शांतिदूत बनकर कौरवों की राजसभा में जाते हैं तो उनके सम्मान में महाराजा धृतराष्ट्र चीन से आई एक हजार हरिणों की खाल भेंट करने की इच्छा प्रगट करते हैं। चीन के हान वंश के शासन के दौरान एक हरिण की खाल का मूल्य 400,000

चीनी सिक्के बताया जाता है। (पंडित गंगा प्रसाद शास्त्री, महाभारत भाग 3, अध्याय 17 पृष्ठ 6, महाभारत प्रकाशक मण्डल, चांदनी चैक दिल्ली)

रामायण और पुराणों में भारत-चीन सम्बंध

वाल्मीकि रामायण के किष्किंधा काण्ड में चीन के साथ ही परम-चीन, दरद, कम्बोज और हिमालय पार की जनजातियों का उल्लेख मिलता है। इनके सहयोगी यवन, शक, किरात, बल्हिक, रिषिक और तंकान को उत्तरापथ की जनजाति बताया गया है। कालिका पुराण में चीन को कम्बोजों के साथ वर्गीकृत किया गया है। वहीं शक, खास और बर्बर आदि को इनसे अलग वर्गीकृत किया गया है। कई पुराणों के भुवनकोष खण्ड में तुषार, पह्लव, बर्बर और चीन को साथ-साथ स्थान दिया गया है। चीन का सीना मारू के रूप में एक संदर्भ वायु पुराण में मिलता है। साथ ही ब्रह्मण्ड पुराण में भी चीन का उल्लेख मिलता है। हालांकि उसी स्थान पर मत्स्य पुराण में विरा-मारू का उल्लेख मिलता है। चीन-मारू या विरा-मारू की भूमि की पहचान तुर्किस्तान के उपर स्थित और खुई के उत्तर में अफगानिस्तान के साथ की गई है।

चीन का दर्शन और मत प्रवर्तन

ईसा के बहुत पहले से ही भारत तथा चीन के बीच जल एवं थल दोनों ही मार्गों से व्यापारिक संबंध थे। ईसा की प्रथम शताब्दी के एक चीनी ग्रंथ से पता चलता है कि चीन का हुआंग-चे (कांची) के साथ समुद्री मार्ग से व्यापार दूतमंडल चीन भेजने को कहा। इस विवरण से स्पष्ट होता है, कि ईसा पूर्व की द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दियों में भारत तथा चीन के बीच समुद्री मार्ग द्वारा विधिवत् संपर्क स्थापित हो चुका था। मैसूर से दूसरी शती ईसा पूर्व का चीनी सिक्का मिलता है। इस प्रकार भारत और चीन के प्रारंभिक संबंध पूर्णतया व्यापारपरक थे। चीनी सिल्क की भारत में व्यापारिक मांग थी। कालिदास ने भी चीनी रेशमी वस्त्र (चीनांशुक) का उल्लेख किया है। शीघ्र ही व्यापार के साथ धम्म प्रचार भी होने लगा। बौद्ध प्रचारकों के द्वारा चीन में दर्शन, विचार और विज्ञान तीनों को पल्लवित किया गया। वहां की मूल संस्कृति को विकृत किए बिना भारतीय विचारकों ने चीन की परम्पराओं में एक नई उर्जा भर दी, जिसका परिणाम है कि बौद्धबहुल होते हुए भी चीन की मूल संस्कृति माओ के आने से पहले तक अक्षुण्ण रही।

भारत का चीन से दार्शनिक और भौतिक सम्पर्क

चीनी परंपराओं के अनुसार भारत के बौद्ध प्रचारक चीन में 217 ईसा पूर्व में ही पहुंचे। एक अन्य विवरण से पता चलता है, कि 121 ईसा पूर्व में एक चीनी सेनानायक पान चाओ ने मध्य एशिया तक सैनिक अभियान किया। वहां से उसे भगवान बुद्ध की एक स्वर्ण प्रतिमा चीन प्राप्त हुई। इस प्रकार चीन को बौद्ध मत और दर्शन के बारे में पहली बार ज्ञान हुआ। इस विवरण की ऐतिहासिकता संदेहास्पद है लेकिन इतना स्पष्ट है कि दो ईसा पूर्व आक्सस घाटी (आमूर दरिया) में बौद्ध मत अपना व्यापक प्रभाव बना चुका था और कुषाण शासक वहां पर शासन के साथ ही मत, दर्शन और पंथ के माध्यम से एक साझी विरासत तैयार कर चुके थे। कुषाणों ने इससे आगे बढ़कर चीनी में ज्ञान, शिक्षण और शासन के लिए भारतीय विद्वद्जन भेजे। चीन में योग इन विद्वद्जनों की विरासत मानी जाती है और योग दर्शन ही चीन का जेन दर्शन है।

चीन के राजकीय स्रोतों से पता चलता है, कि 65 ईस्वी में हानवंश के शासक मिंगती ने स्वप्न में एक स्वर्णिम पुरुष के दर्शन किये। उसके दरबारियों ने इस पुरुष की पहचान बुद्ध से की। फलस्वरूप उसने पश्चिम में अपने राजदूत भेजे। उन राजदूतों के साथ कुषाणों के दरबार से दो विद्वान बौद्ध भिक्षु धर्मरत्न और कश्यप मातंग भी भेजे गए। ये भिक्षु अपने साथ बहुसंख्यक दर्शन ग्रंथ तथा बुद्ध के अवशेष एक श्वेत अश्व पर लादकर लाए। चीनी सम्राट ने उनके रहने के लिए राजधानी में एक विहार का निर्माण करवाया, जिसे श्वेताश्व विहार कहा गया। यह चीन का प्राचीनतम बौद्ध विहार था।

इस प्रकार ईसा की प्रथम शताब्दी तक बौद्ध धर्म चीन में निश्चित आधार प्राप्त कर चुका था। चीनी शासकों तथा कुलीनवर्ग ने बौद्ध धर्म को अपनाया और उसके प्रचार-प्रसार में अभिरुचि दिलाई। प्रारंभ में बौद्ध धर्म का कनफ्यूसिसय मतानुयायियों ने विरोध किया लेकिन भारतीय विद्वानों द्वारा चीन चिंतन को बौद्ध धर्म से जोड़ देने के बाद वे भी इसके समर्थक हो गए। प्रसिद्ध दार्शनिक मोत्सू (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) ने तो इसे कनफ्यूसियस के चिंतन के समान और उससे श्रेष्ठ भी बताया। पश्चिमी सिनवंश के शासक बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। सम्राट वू (265-290 ईस्वी) और मिन् (313-316 ईस्वी) के काल में अनेक मठों और विहारों का निर्माण किया गया। चीन में इस समय तक 37000 भिक्षुओं के मठों में रहने के प्रमाण मिलते हैं। इस समय नानकिंग और चंगन बौद्धधर्म के प्रमुख केन्द्र थे। लगभग सौ वर्षों बाद दक्षिणी चीन के राजा लियांग-वूती ने इसे राजधर्म घोषित किया। वेई वंश के समय में बौद्ध मत की आम जन में प्रतिष्ठा हो गई। उसके बाद सुई एवं तांग राजवंश का काल आया। इस समय तक बौद्ध धर्म चीनियों के जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। तांग काल को चीन का बौद्ध काल भी कहा गया है।

क्या चीन का आमजन भारत आता था?

चीन में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का प्रधान कारण भिक्षुओं का सात्विक जीवन और योग तप में निरत रहना था। इसी कारण जब ह्वेनसांग भारत आता है और नालंदा में कुछ अनचाहा से देखता है, तो उसे आश्चर्य होता है। मध्य एशिया के बौद्ध भिक्षु में धर्मरक्ष और कुमारजीव के नाम प्रमुख हैं। भारत के प्रारंभिक भिक्षुओं में धर्मक्षोम, गुणभद्र, धर्मगुप्त, उपशुन्य, परमार्थ आदि उल्लेखनीय हैं। तांगकाल में प्रभाकरमित्र, दिवाकर, बौधिरुचि, अमोघवज्र, वज्रमित्र जैसे बौद्ध भिक्षु चीन पहुंचे। कश्मीर में बौद्धों का प्रसिद्ध मठ था, जहां से संगभूति, धर्मयशस, बुद्धयशस, विमलाक्ष, बुद्धजीव, धर्ममित्र आदि बौद्ध विद्वान चीन गए। इन्होंने तत्कालीन चीन में विचार और विज्ञान में बहुत योगदान दिया। बौद्धधर्म की सरलता एवं व्यावहारिकता से प्रभावित चीन समाज ने भारत का तीर्थ स्थल मानकर यहां की यात्रा आरम्भ की। यहां आने वाले विद्वानों की कतार लग गई। फिर भी इतिहास चीन से आमजन के आने पर मौन है, लेकिन यह हो नहीं सकता की सिर्फ विद्वान ही भारत आए। चीनी शासकों के शिष्टमण्डलों के भारत आने की भी लम्बी शृंखला उपलब्ध होती है, ऐसे में आमजन के आने के प्रमाण भी होने चाहिए, अन्यथा इस व्यवहार का कोई अर्थ नहीं रहता। इस पर और भी अध्ययन की आवश्यकता है।

क्या भारत ने चीन की परम्पराओं पर प्रभाव डाला?

भारत आने वाले प्रमुख बौद्ध विद्वानों में फाह्यान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग प्रमुख है। ह्वेनत्सांग को तो चीनी यात्रियों के राजकुमार से सम्बोधित किया गया है। फाह्यान चौथी शताब्दी में भारत आया और विभिन्न विभिन्न बौद्ध तीर्थ स्थलों और भारतीय तीर्थों की यात्रा करता हुआ पाटलीपुत्र में चंद्रगुप्त द्वितीय की सभा में उपस्थित हुआ। अपने यात्रा-विवरण में उसने गुप्तकालीन समाज एवं संस्कृति का सुन्दर चित्र खींचा है। ह्वेनत्सांग हर्षवर्धन के समय में भारत आया और उसने हर्षकालीन भारत की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दशा का वर्णन किया है। इत्सिंग सातवीं शती (671 ईस्वी) में भारत आया। अपनी यात्रा विवरण में उसने नालंदा विश्वविद्यालय का वर्णन किया है। बौद्ध संपर्क से चीन में मूर्तिपूजा, मंदिर-निर्माण, भिक्षु जीवन, पुरोहितवाद आदि का प्रारंभ हुआ। अनेक विद्वानों ने बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जिसके फलस्वरूप चीनी साहित्य की वृद्धि हुई। भारतीय ज्योतिष एवं चिकित्सा से भी चीनीवासी प्रभावित हुए। तांग राजाओं के दरबार में भारतीय ज्योतिषी रहते थे। एक भारतीय विद्वान ने तांग सम्राट को एक भारतीय पंचाङ्ग समर्पित किया था। भारत के तान्त्रिक योगी चीनी शासकों के दरबार में जाकर रोगों का निदान प्रस्तुत करते थे। भारतीय गंधार कला का प्रभाव चीन की कला पर पड़ा। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियां बनाई गई और स्तूपों का निर्माण किया गया, लेकिन स्तूप का शिल्प और वास्तु चीनी ही रहा। अजंता के गुहा-चित्रों के

समान तुल-हुआंग में गुहा-चित्र प्राप्त होते थे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के विविध तत्वों का चीनी संस्कृति पर प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

आखिर चीन का भारतीय क्षेत्रों पर दावा क्यूं?

चीन और भारत का विवाद कोई 1947 के बाद पैदा नहीं होता है। चीन के विस्तारवादी राजवंशों का हमेशा से ही तिब्बत, मंचूरिया और बैक्ट्रिया पर दावा करना इस विवाद की जड़ है। यह भारत और चीन के बीच दो अपेक्षाकृत बड़े और कई अलग-अलग क्षेत्रों में संप्रभुता का मुकाबला था और है। अक्साई चिन हो या लद्दाख के भारतीय संघ क्षेत्र या शिनजियांग के चीनी स्वायत्त क्षेत्र सभी सांस्कृतिक रूप से वृहद भारत के साझेदार हैं। अक्साई चिन झिंजियांग-तिब्बत राजमार्ग द्वारा पार किया जाने वाला एक लगभग निर्जन उच्च ऊंचाई वाला बंजर भूमि है। अन्य विवादित क्षेत्र मैकमोहन रेखा के दक्षिण में स्थित है। इसे पहले नॉर्थ ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी के रूप में जाना जाता था और अब इसे अरुणाचल प्रदेश कहा जाता है। मैकमोहन रेखा ब्रिटिश भारत और तिब्बत के बीच 1914 शिमला कन्वेंशन का हिस्सा थी। उस समय चीन का अस्तित्व सिर्फ यांटिसी, सिक्यांक और मैकांग नदी के मैदान में था और इस कारण चीन का इस समझौते में होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। यही कारण है कि चीन अब तक मैकमोहन रेखा को भारत-चीन की आधिकारिक सीमा नहीं मानता और वह इसके विपरीत भारतीय संस्कृति और हिमालय के वर्षा छत्र के हिस्सों पर अपना दावा करता है। चीन किसी भी प्रकार से सिन्धु-आमूर क्षेत्र का भागीदार नहीं है। तोखरी और तिब्बती तो चीन के नैसर्गिक पड़ोसी भी नहीं है, जब तक कि वह मंचूरिया पर काबिज नहीं होता।

वर्तमान परिस्थितियों में भारत चीन

1962 के आसपास, चीनी सैनिकों ने मैकमोहन रेखा को पार किया और एक महीने के युद्ध के दौरान, वास्तविक नियंत्रण रेखा स्थापित करने के लिए आगे बढ़ा। 1967 में एक दूसरे युद्ध में एक सीमा संघर्ष बढ़ गया, जिसके अंत में भारत ने कहा कि इसने एक नई वास्तविक नियंत्रण रेखा स्थापित की है। इसके बाद 2020 तक कोई और सैन्य झड़प भारत और चीन में नहीं हुई। 1987 में और 2013 में दोनों के बीच संभावित टकराव वास्तविक नियंत्रण की अलग-अलग रेखाओं को सफलतापूर्वक डी-एस्केलेट किया गया। भूटान और चीन के बीच सीमा पर एक भूटानी-नियंत्रित क्षेत्र को शामिल करने वाला संघर्ष 2017 में भारतीय और चीनी दोनों सैनिकों की चोटों के बाद सफलतापूर्वक डी-एस्केलेट किया गया था।

1962 के चीन-भारतीय युद्ध दोनों विवादित क्षेत्रों में लड़े गए थे। 1996 में समाप्त हुए विवाद को सुलझाने के समझौते में 'विश्वास-निर्माण के उपाय' और पारस्परिक रूप से सहमत विफल सत्यापन, वास्तविक नियंत्रण रेखा शामिल थी। 2006 में, भारत में चीनी राजदूत ने दावा किया कि अरुणाचल प्रदेश के सभी सैन्य क्षेत्र में चीनी क्षेत्र है। उस समय, दोनों देशों ने सिक्किम के उत्तरी सिरे पर एक किलोमीटर की दूरी पर घुसपैठ का दावा किया था। 2009 में, भारत ने घोषणा की कि वह सीमा पर अतिरिक्त सैन्य बल तैनात करेगा। 2014 में, भारत ने प्रस्ताव रखा कि चीन को सीमा विवाद को हल करने के लिए एक भारत नीति को स्वीकार करना चाहिए। काराकाश नदी पर क्षेत्र के सबसे निचले बिंदु से लगभग 14,000 फीट (4,300 मीटर) पर समुद्र तल से 22,500 फीट (6,900 मीटर) ऊपर की हिमाच्छादित चोटियों के लिए, अक्साई चिन एक उजाड़, काफी हद तक निर्जन क्षेत्र है। इसमें लगभग 37,244 वर्ग किलोमीटर (14,380 वर्ग मील) का क्षेत्र शामिल है। इस क्षेत्र के उजाड़ने का मतलब यह था कि इसे पार करने वाले प्राचीन व्यापार मार्गों के अलावा इसका कोई महत्वपूर्ण मानवीय महत्व नहीं था, शिनजियांग और तिब्बत से याक के कारवां के लिए गर्मियों के दौरान संक्षिप्त मार्ग प्रदान करता था।

सिख तिब्बत विवाद

जब पंजाब में सिख सम्राज्य प्रबल हुआ तो महाराजा रणजीत सिंह की सेना ने 1834 में अक्साई चिन तक के पूरे क्षेत्र पर दावा स्थापित कर लिया था। 1841 में सिखों की सेना ने आगे बढ़कर तिब्बत पर आक्रमण आरम्भ कियाए इसके जवाब में तिब्बती सेना ने सिख सेना को पीछे धकलते हुए और प्राकृतिक हालातों का सही उपयोग करते हुए लद्दाख में प्रवेश किया और लेह को घेर लिया। सिख सरकार की और से इसके बाद संधि की गई। तिब्बत और सिख में हुई सितम्बर 1942 की संधि में दोनों राज्यों की सीमाए अपरिर्वतनीय रही। 1846 में सिखों की अंग्रेजों से पराजय के बाद लद्दाख भी ब्रिटिश भारत का हिस्सा बन गया। इस पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का कब्जा हो गया। यहीं से अंग्रेजों ने तिब्बत में चीनी हस्तक्षेप को स्वीकार किया और चीनी अधिकारियों से वार्ता कर भारत में चीन के दखल को कूटनीतिक जाम पहना दिया। हालांकि, दोनों पक्ष इस बात से पर्याप्त रूप से संतुष्ट थे कि एक पारंपरिक सीमा को प्राकृतिक तत्वों द्वारा पहचाना और परिभाषित किया गया था, और सीमा का सीमांकन नहीं किया गया था। पंगोंग झील और काराकोरम दर्रा, दो छोरों की सीमाओं को यथोचित रूप से परिभाषित किया गया था, साथ ही अक्साई चिन क्षेत्र की उंचाई विकट प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण उस पर चीन ने कभी दावा ही नहीं किया।

जॉनसन लाइन

सर्वे ऑफ इंडिया के साथ एक सिविल सेवक डब्ल्यूएच जॉनसन ने 1865 में 'जॉनसन लाइन' का प्रस्ताव रखा, जिसने जम्मू-कश्मीर में अक्साई चिन को रखा। यह डुंगन विद्रोह का समय था और इस समय चीन का झिंजियांग पर नियंत्रित नहीं था, इसलिए इस रेखा पर चीन से वार्ता का कोई तर्क नहीं बनता। मोहन गुरुस्वामी अपनी पुस्तक इमर्जिंग ट्रेण्ड्स इन इण्डिया-चायना रिलेशन में लिखते हैं कि जॉनसन ने इस लाइन पर जम्मू-कश्मीर के महाराजा से चर्चा की और इसके भीतर निहित 18,000 वर्ग किलोमीटर पर ब्रिटिश भारत का दावा किया था ? इसके अलावा जॉनसन ने क्यून-लुन पर्वत और संजू दर्रे को भी भारत में स्वीकार किया। जम्मू-कश्मीर के महाराजा ने शाहिदुल्ला या जैदुल्ला में एक गढ़ का निर्माण करवाया और उस मार्ग से गुजरने वाले व्यापारियों के कारवां के लिए सेना की तैनाती की।

संदर्भ

1. Stein 1979, Page No. 66.
2. Tan Chung (1998). A Sino-Indian Perspective for India-China Understanding.
3. Chavannes, Édouard. (1906) "Trois Généraux Chinois de la dynastie des Han Orientaux. Pan Tch'ao (32–102 p. C.); – son fils Pan Yong; – Leang K'in (112 p. C.). Chapitre LXXVII du Heou Han chou." T'oung pao 7, (1906) p. 232 and note 3.
4. Hill, John E. (2009) Through the Jade Gate to Rome: A Study of the Silk Routes during the Later Han Dynasty, 1st to 2nd centuries CE. BookSurge, Charleston, South Carolina. ISBN 978-1-4392-2134-1, page 9.
5. The Medical times and gazette, Volume 1, John Churchill, 1867, ... According to Fa Hian, the Chinese traveller, the first people in Ceylon were demons and dragons, who are probably intended for the original Yakkahs.
6. Maritime silk road, Qingxin Li, China Intercontinental Press, 2006, ISBN 978-7-5085-0932-7, in the autumn of 411 AD, Faxian set sail for home on a commercial ship carrying over 200 passengers. ... Lao Mountain in Qingdao, Shandong Province ... warm hospitality from Li Yi, the viceroy of Changguang Prefecture-
7. "Old coins narrate Sino-Tamil story". The New Indian Express 2016

8. Smith, Vincent Arthur (1904), The Early History of India, The Clarendon press, pp. 336–358, ISBN 81-7156-618-9.
9. Srivastava, Balram (1973), Rajendra Chola, National Book Trust, India, p. 80, The mission which Rajendra sent to China was essentially a trade mission.
10. D. Curtin, Philip (1984), Cross-Cultural Trade in World History, Cambridge University Press, p. 101, ISBN 0-521-26931-8.
11. Kamil V. Zvelebil (1987). “The Sound of the One Hand”, Journal of the American Oriental Society, Vol. 107, No. 1, pp. 125–126.
12. Joseph Needham, Science and Civilisation in China : Volume 3, p. 109-
13. Ananth Krishnan (19 July 2013). “Behind China’s Hindu temples, a forgotten history”. The Hindu.
14. Wade, Geoff, “The Polity of Yelang and the Origin of the Name ‘China’”, Sino-Platonic Papers, No. 188, May 2009
15. डा. केपी जायसवाल, अंधकार युगीन भारत, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी.
16. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाईटेड बुक डिपो.
17. Hoffmann, India and the China Crisis (1990), p. 19.
18. Ramachandran, Sudha (15 July 2020). “Beijing Asserts a More Aggressive Posture in Its Border Dispute with India”. Jamestown Foundation. Retrieved 17 July 2020.
19. The Sino-Indian Border Disputes, by Alfred P. Rubin, The International and Comparative Law Quarterly, vol. 9, No. 1. (Jan. 1960), Page 96&125.
20. Mohan Guruswamy, “The Great India-China Game”.
21. Tamura, Eileen H.; Linda K. Mention; Noren W. Lush; Francis K. C. Tsui; Warren Cohen (1997), China: Understanding Its Past. University of Hawaii Press. p. 70. ISBN 978-0-8248-1923-1.
22. Wáng, Qingxiáng (1999). Sangi o koeta otoko (The man who exceeded counting rods). Tokyo: Toyo Shoten. आई॰एस॰बी॰एन॰ 4-88595-226-3.

चीन और उसके मिथक

✍ रवि शंकर

लेखक वरिष्ठ पत्रकार, इतिहासविद और सभ्यता अध्ययन केंद्र के निदेशक हैं।

भारत और चीन दोनों पड़ोसी देश ही नहीं हैं, बल्कि दोनों में काफी कुछ साझा है। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं की जब भी चर्चा होती है, भारत के साथ चीन का नाम लिया जाता है। आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से चीन भारत के सर्वाधिक नजदीक माना जाता है। विश्व को अधिकांश तकनीकें इन्हीं दोनों देशों ने दी हैं। विश्व व्यापार पर कई हजार वर्षों तक इन्हीं दोनों देशों का कब्जा रहा है और आज फिर विश्व व्यापार पर इनका कब्जा होने वाला है। स्वाभाविक ही है कि भारत और चीन अच्छे पड़ोसी होते। दुर्भाग्यवश ऐसा है नहीं। वर्तमान में मित्रता और शांति के सभी प्रयासों के बाद भी चीन भारत का शत्रु ही बना हुआ है। ऐसा क्यों है? प्रश्न यह भी उठता है कि आखिर हम चीन के साथ कैसा संबंध रखें? उसके साथ हम कैसा व्यवहार करें? क्या वास्तव में भारत और चीन के संबंध ऐतिहासिक रूप से प्राचीन हैं? क्या भारत और चीन में कुछ सांस्कृतिक समानता भी है?

यहां हमें यह समझने की आवश्यकता है कि वर्तमान में चीन हमारा पड़ोसी देश मात्र नहीं है, वह एक आक्रामक पड़ोसी है। वह लगातार भारत के अनेक भूभागों पर दावा ठोकता रहा है और उसने 1962 में आक्रमण करके भारत के एक विशाल भूभाग पर कब्जा भी कर रखा है। पाकिस्तान ने भी उसे भारत से कब्जाए गए प्रदेश में से एक भाग सौंप रखा है। अभी भी अरुणाचल प्रदेश पर चीन ने दावा ठोंकना बंद नहीं किया है। अभी हाल तक चीन अपने यहां नक्शे में अरुणाचल प्रदेश को चीन में ही दिखाता रहा है। ऐसे में कोई भी रणनीति बनाने से पहले हमें चीन के इतिहास और वर्तमान दोनों को ही ठीक से ध्यान में रखना होगा। भारत द्वारा मित्रता के निरंतर प्रयासों के बाद भी आखिर क्यों चीन लगातार भारत के साथ संघर्ष की स्थिति बनाए हुए है? इस प्रश्न को समझने के लिए हमें चीन के इतिहास को ठीक से खंगालना होगा। तभी हम उसकी इस मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि को समझ पाएंगे और उसका निराकरण भी कर पाएंगे।

चीन : भारत का दिया नाम

हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि चीनी भाषा में चीन का नाम झोंगुओ है, चीन नहीं। झोंगुओ का अर्थ होता है सेंट्रल किंगडम यानी कि मध्य में स्थित या केंद्रीय साम्राज्य। चीन का जो वास्तविक इलाका है, वह कई राज्यों से घिरा हुआ है। उत्तर में मंगोलिया, पूरब में मंचूरिया, पश्चिम में तिब्बत, दक्षिण में समुद्र और इनके मध्य में चीन, इसलिए उसे मध्य में स्थित राज्य यानी झोंगुओ कहा गया। आधुनिक इतिहासकारों का मानना है कि आज से लगभग 2200 वर्ष पुराने किन (Qin) राजवंश के नाम पर चीन नाम पड़ा है। किन से चीन बन गया। परंतु यह सही नहीं है। आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार

कौटिलीय अर्थशास्त्र का काल आज से लगभग 2325 वर्ष पहले का है और भारतीय प्रमाणों के अनुसार कम से कम 3500 वर्ष पहले का। यदि हम आधुनिक इतिहासकारों का मत ही स्वीकार कर लें, फिर भी चीन नाम का उल्लेख किन राजवंश से लगभग 125 वर्ष पहले से उपलब्ध है, जिसका सीधा अर्थ है कि चीन नाम किन राजवंश के नाम से नहीं लिया गया। महाभारत तो कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी पुरानी रचना है और चीन का नाम उसमें भी कई बार आया है। इतना ही नहीं, महाभारत में उन जनपदों का नाम भी आया है, जिन्हें अर्जुन ने विजित किया और जो वर्तमान में चीन के प्रदेश हैं। ऐसे में किन राजवंश से चीन नाम का पड़ना कहीं से भी तर्कसंगत नहीं है।

वस्तुतः चीन संस्कृत भाषा का शब्द है। शब्द कल्पद्रुम में चीन शब्द की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। उसके अनुसार चीन का अर्थ है वह प्रदेश जहाँ के लोग अपनी पुरुषार्थहीनता को छिपाते हैं। इसका एक रूढ़ अर्थ और किया जाता है – वृषल यानी वर्णसंकर जातिविशेष के लोगों का देश। यह अनुमान किया जाता है कि किसी प्राचीन काल में जिसे आज के इतिहासकार प्रिहिस्टोरिक यानी कि प्राक् ऐतिहासिक मानते हैं, वर्णसंकर लोगों द्वारा ही यह स्थान बसाया गया होगा। सीधी सी बात है कि दुनिया चीन को उसके भारतीय नाम से ही जानती और पुकारती है और वे स्वयं भी अपनी भाषा के नाम के बजाय भारतीय भाषा के नाम को ही स्वीकारते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि चीन भी कभी भारत का ही एक प्रदेश रहा होगा। यदि वह भारत का प्रदेश न भी रहा हो तो भी इतना तो इससे साफ हो जाता है कि चीन को भारत के द्वारा ही दुनिया ने जाना और समझा था। इसीलिए उसका भारतीय नाम ही प्रसिद्ध हुआ। यदि हम चीन के वर्तमान विभिन्न भूराजनीतिक तथा भूसांस्कृतिक क्षेत्रों की पड़ताल करें, यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

विशालता का मिथक

अब चीन की विशालता पर विचार करते हैं। वर्तमान चीन का क्षेत्रफल भारत से लगभग तीन गुणा है। परंतु चीन की जनसंख्या भारत से थोड़ी सी ही अधिक है। समझने की बात यह है कि चीन आज जितना बड़ा हमें दिखता है, वह वास्तव में उतना बड़ा है नहीं। चीन का वास्तविक प्रदेश भारत जितना ही है। यदि हम इतिहास में थोड़ा और पीछे जाएंगे तो चीन भारत जितना भी नहीं रहा है। बारहवीं शताब्दी से पहले तक उसका वास्तविक क्षेत्रफल भारत से काफी छोटा रहा है। उदाहरण के लिए आभ्यंतर मंगोलिया, तिब्बत, शिन ज्याङ् और मांचूरिया कभी भी चीन का हिस्सा नहीं रहे। इसे हम विभिन्न शताब्दियों में चीन के नक्शे से समझ सकते हैं।

यदि हम 2000 वर्ष के चीन के इतिहास को देखें कुछ वर्षों को छोड़कर प्रथम शताब्दी से लेकर 1280-1290 तक सम्पूर्ण चीन का क्षेत्रफल भारत की अपेक्षा बहुत कम और कुछ समय तो आधे से भी कम रहा है। वर्तमान चीन जिसका क्षेत्रफल लगभग 96 लाख वर्ग किलोमीटर है, यह मूल चीन, तिब्बत, पूर्वी तुर्किस्तान (शिन ज्याङ्), इनर मंगोलिया और मंचूरिया का सम्मिलित स्वरुप है। इसमें तिब्बत का क्षेत्रफल 20 लाख वर्गकिलोमीटर, शिन ज्याङ् का क्षेत्रफल लगभग 16 लाख वर्ग किलोमीटर, इनर मंगोलिया का क्षेत्रफल 12 लाख वर्ग किलोमीटर तथा मंचूरिया का क्षेत्रफल लगभग 15 लाख वर्ग किलोमीटर है। इस प्रकार मूल चीन का क्षेत्रफल वर्तमान विभाजित भारत के लगभग समान यानी 30-32 लाख वर्गकिलोमीटर ही है। इतिहास के अलग अलग कालखंडों में देखा जाए तो चीन का क्षेत्रफल वर्तमान भारत के क्षेत्रफल से भी काफी कम रहा है। मूल चीन की सीमाओं को समझने के लिए चीन की विशाल दीवार भी एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसको मिंग वंश (सन् 1368-1644) के शासन काल में लगभग अंतिम स्वरुप दिया गया था। उस समय तक मूल चीन के अतिरिक्त तिब्बत, शिन ज्याङ्, आभ्यंतर मंगोलिया, मंचूरिया आदि चीन के भाग नही थे। यह समझना कठिन नहीं है कि कोई भी देश अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए ही दिवाल, फेंस आदि बनाता है। चीन की दिवाल

की परिकल्पना समझा जाता है कि 300 ईसा पूर्व में किन राजवंश ने की थी। तभी से चीन के शासक मंगोलों के आक्रमणों से चीन को बचाने के लिए दिवालें बनाते रहे हैं, परंतु वर्तमान में मिलने वाली दिवाल मिंग वंश की बनवाई हुई है। चीन की दिवाल से बाहर चीन द्वारा कब्जा किए गए इलाकों का कुल क्षेत्रफल चीन के वर्तमान क्षेत्रफल का 54 प्रतिशत है।

चीन का मूल क्षेत्र हान प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल वर्तमान भारतीय गणराज्य, जिसमें पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, बर्मा आदि शामिल नहीं हैं, के बराबर है। हान जाति ही मूल चीनी जाति है। हानों की संस्कृति ही मूल चीनी संस्कृति है। और हानों का प्रदेश काफी सीमित रहा है। इन पर तुर्क, मंगोल और मांचू जातियों ने शताब्दियों तक राज किया है। चीन के वर्तमान कम्युनिस्ट शासन ने इन सभी क्षेत्रों पर राजनीतिक कब्जा जमा लिया है। परिणामस्वरूप आज चीन में तुर्क, मंगोल और मांचू प्रदेश भी शामिल है। यही कारण भी है कि चीन में इन सभी क्षेत्रों में विशेषकर शिन ज्याङ् और तिब्बत में चीनविरोधी प्रदर्शन हमेशा चलते रहते हैं जो कभी-कभी हिंसक रूप भी ले लेते हैं। मंगोलिया के अलावे शेष प्रदेशों के नाम चीन की कम्यूनिस्ट सरकार ने बदल दिए हैं। संभवतः वे उन क्षेत्रों की जनता को अपना इतिहास भुलवा देना चाहते होंगे। खोतान जिसे बाद में तुर्किस्तान कहा जाने लगा था, का नाम शिन ज्याङ रखा है जिसका अर्थ होता है न्यू फ्रंटियर यानी नया प्रदेश। मांचू प्रदेश को मञ्चु कुओ के पुराने नाम से पुकारने की बजाय तीन प्रदेशों में बांट कर ल्याओ निङ्, कीरिन और हाइ लुङ् ज्याङ् नाम दिया गया है। तीनों को मिला कर उत्तर पूर्वी प्रदेश कहा जाता है। इसी प्रकार चीन ने तिब्बत को भी तीन भागों में बांट दिया है। तिब्बत, छाम्दो और चिङ् हाइ। इस प्रकार मूलतः हान और वर्तमान कम्यूनिस्ट चीन ने इन सभी क्षेत्रों को अपने रंग में रंगने की भरपूर कोशिशें की हैं।

वर्तमान चीन का एक बड़ा भाग है तिब्बत। तिब्बत का उल्लेख भारतीय ग्रंथों में त्रिविष्टप के नाम से पाया जाता है। त्रिविष्टप से ही तिब्बत शब्द बना है। तिब्बत और भारत के सांस्कृतिक संबंधों को तो बड़ी आसानी से पहचाना जा सकता है। वर्ष 1951 से पहले तक तिब्बत एक अलग राज्य था जो सांस्कृतिक रूप से पूरी तरह भारत का अंग था। तिब्बती लोग बौद्ध मत को मानते थे और आज भी मानते हैं जोकि एक भारतमूलक मत है। तिब्बती भाषा में संस्कृत और पाली के बड़ी संख्या में अनुवादित ग्रंथ पाए जाते हैं जिनमें से कई तो अभी मूल रूप में अप्राप्य हो चुके हैं। तिब्बत वर्ष 1950 तक चीन का हिस्सा नहीं रहा है और यदि भारतीय नेताओं ने थोड़ी समझदारी दिखाई होती तो आज भी वह चीन का हिस्सा नहीं होता। इतिहास देखें तो भी मंगोलों के शासन के अलावा तिब्बत कभी भी चीन का हिस्सा नहीं रहा। दुखद बात यह है कि जब चीन ने तिब्बत पर कब्जा किया तो भारत की तत्कालीन सरकार ने तिब्बत का सहयोग नहीं किया। आज भी तिब्बत की निर्वासित सरकार का केंद्र भारत में ही है।

तिब्बत के अलावा वर्तमान चीन का एक बड़ा भूभाग है शिन ज्याङ्। शिन ज्याङ् वास्तव में एक भारतीय राज्य रहा है। यहां हजार वर्ष लंबे बौद्ध राज्य के होने के पुरातात्विक प्रमाण बड़ी संख्या में पाए गए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पूरा प्रदेश खोतान कहा जाता था। तिब्बती और भारतीय स्रोतों से ज्ञात होता है कि खोतान आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले तक एक वीरान प्रदेश था। एक वर्णन के अनुसार मौर्य शासकों के काल में अशोक ने हिमालयी क्षेत्रों में बसे लोगों से नाराज होकर उन्हें इधर भेज दिया था। उन्हीं भारतीय लोगों, जिनकी संख्या लगभग 7000 बताई जाती है, ने खोतान को बसाया। उसके कुछ समय पश्चात् चीन से लोगों का एक समूह भी खोतान के पूर्वी इलाके में आकर बस गया। कालांतर में खोतान पर प्रभुत्व के लिए दोनों गुटों में संघर्ष हुआ और बाद में दोनों ने मिल कर शासन करना स्वीकार किया। परंतु खोतान पर सांस्कृतिक रूप से भारतीय अधिक प्रभावी रहे। इसलिए वहां की लिपि, साहित्य और संस्कृति सभी भारतीय ही बनी रही। खोतान पर राजनीतिक प्रभुत्व या तो

भारत का रहा या फिर वह स्वायत्तशासी रहा। खोतान पर चीन का शासन पहली बार 8वीं शताब्दी में हुआ, जब सम्राट ललितादित्य ने उससे एक राजनीतिक समझौते के तहत ऐसा स्वीकार किया। यही कारण है कि खोतान में पुरातात्विक खुदाई में बड़ी संख्या में भारतीय संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

खोतान के संबंध में अनेक कथाएं भारतीय और तिब्बती संदर्भों में मिलती हैं। उनमें काफी साम्यता भी है और कुछ भेद भी। इन कथाओं के आधार पर पंडित चंद्रगुप्त वेदालंकाल लिखते हैं, ''भगवान् बुद्ध के निर्वाण पद को प्राप्त करने के चार सौ वर्ष उपरान्त और धर्माशोक की मृत्यु के 165 वर्ष बाद 53 ई. पू. खोतान के राजा विजयसम्भव के शासनकाल के पांचवें वर्ष अर्हत वैरोचन ने पहले-पहले खोतान में बौद्धधर्म का प्रचार किया। इस समय भारत में मौर्य्यों का शासन समाप्त हो चुका था। मौर्य्यों के बाद कण्व आये। कण्व राजा भूमिमित्र को शासन करते हुए जब 10 वर्ष हो चुके थे जब कश्मीर से अर्हत वैरोचन नामक एक भिक्षु खोतान गया। इसने राजा को बौद्धधर्म की दीक्षा दी। 'ली' भाषा और 'ली' लिपि का प्रचार किया।''

विभिन्न तिब्बती और भारतीय वर्णनों के अनुसार निम्न बातें सामने आती हैं:-

(क) अशोक से बहुत वर्ष पूर्व कुछ ऋषि (धर्मप्रचारक) खोतान गये थे। परन्तु वहां के निवासियों ने उनका स्वागत न कर अपमान किया, जिससे उन्हें वापिस लौटना पड़ा।

(ख) किन्हीं दैवीय कारणों से खोतान में भयंकर जल-विप्लव हुआ और वहां की जन-संख्या बिलकुल नष्ट हो गई।

(ग) पानी सूखने पर अशोक का मंत्री यश और राजकुमार कुस्तन स्थान ढूंढ़ते हुए खोतान पहुंचे। देश को जनशून्य देखकर और स्थान की सुन्दरता से मुग्ध होकर दोनों ने उसे बसा लिया।

(घ) इन्हीं कथानकों से एक परिणाम और निकलता है और वह यह है कि खोतान एक भारतीय उपनिवेश था। जिन लोगों ने उसे बसाया वे भारतीय थे। उनके देवता वैश्रवण और श्री महादेवी थे। उनके मन्दिरों की मूर्तियां भी इन्ही देवताओं की थीं।

अर्हत वैरोचन कश्मीर से खोतान गया। वहां जाकर उसने बौद्धधर्म का प्रचार किया। राजा उससे प्रभावित होकर बुद्ध का भक्त बन गया और कुछ समय पश्चात् उसने एक विहार बनवाया जो खोतान का सर्वप्रथम बौद्धविहार था। खोतान के बारे में चीनी यात्री फाह्यान ने जो वर्णन किया है, वह भी भारतीय प्रभावों की पुष्टि करता है। 404 ई. में फाह्यान लिखता है, ''देश बहुत समृद्ध है। लोग खूब सम्पन्न हैं। जनसंख्या बढ़ रही है। यहां के सब निवासी बौद्ध है और मिल कर बुद्ध की पूजा करते हैं। प्रत्येक घर के सामने एक स्तूप है। छोटे-से छोटे स्तूप की ऊंचाई पच्चीस फीट है। संघारामों में यात्रियों का खूब स्वागत किया जाता है। राज्य में बहुत से भिक्षु निवास करते हैं। इनमें अधिकांश महायान सम्प्रदाय के हैं। अकेले गोमति विहार में ही महायान सम्प्रदाय के तीन सहस्त्र भिक्षु निवास करते हैं, तथा घण्टा बजने पर भोजन करने के लिए भोजनालय में प्रविष्ट होते हैं और चुपचाप अपने स्थान पर बैठ जाते है। भोजन करते हुए ये परस्पर बात-चीत नहीं करते और न बांटने वाले के साथ ही बोलते हैं। प्रत्युत हाथ से ही 'हां' और 'न' का इशारा कर देते हैं।''

इसी प्रकार एक और चीनी यात्री सुङ्-युन् 519 ई. में खोतान पहुंचा। वह लिखता है, ''इस देश का राजा सिर पर मुर्गे की आकृति का मुकुट धारण करता है। उत्सवों के समय राजा के पीछे तलवार और धनुष उठाने वालों के अतिरिक्त विविध वाद्य-उपकरणों को बजाने वाले भी चलते हैं। यहां की स्त्रियों पुरुषों की भांति घोड़ों पर चढ़ती हैं। मुर्दे जलाये जाते हैं।''

प्राचीन खोतान नगर के बारे में चंद्रगुप्त वेदालंकाल ने लिखा है, ''युरङ्काश नदी के पश्चिमी किनारे पर योतकन नामक नगर विद्यमान है। यहां पर प्राचीन समय के भग्नावशेष प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। गम्भीर अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि इसी स्थान पर खोतान देश की प्राचीन राजधानी खोतान नगर

विद्यमान था। यहां से मध्यकालीन भारतीय राजाओं के आठ सिक्के उपलब्ध हुए हैं। इसमें से छः काश्मीर के राजाओं के है और शेष दो सिक्के काबुल के हिन्दु राजा "सामन्तदेव" के हैं। यहां से मिट्टी का बना हुआ एक छोटा-सा बर्तन मिला है। इसके सिर पर एक बन्दर बैठा हुआ है जो सितार बजा रहा हैं। एक अन्य बर्तन के दोनों ओर दो स्त्रियों की मूर्तियां बनी हुई हैं। ये गन्धर्वियों की मूर्तियां है। मिट्टी के बने हुए वैश्रवण के सिर मिले हैं। घन्टे की आकृति की एक मोहर भी प्राप्त हुई है। एक अन्य मोहर पर गौ का चित्र बना हुआ है। पीतल की बनी एक बुद्ध मूर्ति भी मिली है। इसका दायां हाथ ऊपर की ओर है और अंगुलियां ऊपर उठाई हुई हैं। एक दीवार पर 'मार' और उसकी स्त्री द्वारा भगवान् बुद्ध को प्रलोभित करने का दृश्य दिखाया गया है। एक आले में बोधिसत्व की मूर्ति विराजमान हैं। इसका दाहिना स्कंध तथा छाती नंगी है। देह पर चीवर पहरा हुआ है। दायां हाथ पृथ्वी की ओर झुका हुआ है। समीप ही तीन स्त्रियों की मूर्तियां हैं। इनमें से एक मूर्ति नागिन की है। सामने 'मार' का भयावह चित्र है। इसने हाथ में वज्र पकड़ हुआ है और मुंह बुद्ध की ओर फेरा हुआ है।"

ये वर्णन साबित करते हैं कि प्राचीन खोतान और वर्तमान शिन ज्याङ् एक समय में भारतीय प्रदेश ही रहे हैं। वहां भारतीय परंपराओं के अनुसार ही लोग जीवन जीते रहे हैं। कालांतर में यहां इस्लाम का आगमन हुआ और यहां के लोगों ने पराजित होने पर इस्लाम स्वीकार कर लिया। परंतु इसके बाद भी यह स्वाधीन प्रदेश था। मंगोलों ने पहली बार इसे अपने साम्राज्य में शामिल किया।

चीन के उत्तर में स्थित मंगोलिया के भी भारत से काफी नजदीकी संबंध रहे हैं। प्रसिद्ध विद्वान तथा भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष रहे आचार्य रघुवीर पचास के दशक में मंगोलिया की यात्रा पर गए थे। उनकी जीवनी में शशिबाला लिखती हैं, "बीसवीं शताब्दी में भारत से मंगोलिया जाने वाले वे पहले आचार्य थे। 1956 में जब वे वहां गए तो वहां की जनता के लिए मानो एक युगप्रवर्तक घटना घटी हो। प्रधानमंत्री से लेकर विद्वान, पत्रकार, जनता-जनार्दन का अपार स्नेह उन्हें मिला। जिस-जिस तम्बू में वे गए, माताओं ने अपने बच्चों को उनकी गोद में बिठा दिया, सब उनका आशीर्वाद पाने को आतुर थे।"

उस समय उनके अनुसंधान का विषय था - मंगोलिया की भाषा, साहित्य, संस्कृति और धर्म। वह इतिहास जिसमें छठी शताब्दी के उन भारतीय आचार्यों का वर्णन है जो धर्म की ज्योति लिए मंगोल देश में गये, और 6000 संस्कृत ग्रन्थों का मंगोल भाषा में भाषान्तर किया, जिनके द्वारा निर्मित दस लाख मूर्तियां, सात सौ पचास विहारों में सुरक्षित थीं, जिनके द्वारा लिखी अथवा लिखवायी गयीं बत्तीस लाख पाण्डुलिपियां 1940 तक विहारों में सुरक्षित थीं, लाखों प्रभापट थे। आचार्य जी इन सब का अवलोकन करना चाहते थे। मंगोल भाषा में लिखा गया विक्रमादित्य, राजा भोज और कृष्ण की कथाएं वे अपने साथ लाए। इस यात्रा से वे अपने साथ तीन लाख पृष्ठों के अणु चित्र लाये, पाण्डुलिपियां और प्रभापट लाये। वहां उन्होंने चंगेज खां के वंशजों के अति दिव्य मन्दिर देखे जो गणेशजी की मूर्तियों से सुशोभित थे।

यहां से आचार्य जी मंगोल भाषा में अनूदित अनेक ग्रन्थ लाये जिनमें कालिदास का मेघदूत, पाणिनि का व्याकरण, अमरकोश, दण्डी का काव्यादर्श आदि सम्मिलित हैं। इनमें से एक, "गिसन खां" अर्थात् राजा कृष्ण की कथाओं का उनकी सुपुत्री डा. सुषमा लोहिया ने अनुवाद किया है। वे भारतीयों को भारतीयता के गौरव की अनुभूति करवाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने मंगोल-संस्कृत और संस्कृत-मंगोल कोश भी लिख डाले। उन्होंने मंगोल भाषा का व्याकरण भी लिखा ताकि भावी पीढ़ियां उसका अध्ययन कर सकें। वहां "आलि-कालि-बीजहारम्" नामक, संस्कृत पढ़ाने की एक पुस्तक आचार्य जी को उपलब्ध हुई। इसमें लाञ्छा और वर्तुल दो लिपियों का प्रयोग किया गया है। भारत में ये लिपियां खो चुकी हैं। मंगोलिया में बौद्ध भिक्षु संस्कृत की धारणियों को लिखने और पढ़ने के लिए इस पुस्तक का अध्ययन किया करते थे। इसमें संस्कृत अक्षरों का तिब्बती और मंगोल लिपियों में लिप्यन्तर

कर उन्हीं भाषाओं में वर्णन प्रस्तुत किए गए हैं। और भी आश्चर्य की बात है कि इसकी छपाई चीन में हुई थी। यह पुस्तक मात्र भारत के चीन, मंगोलिया और तिब्बत के साथ सांस्कृतिक सम्बंधों की गाथा ही नहीं सुनाती अपितु नेवारी, देवनागरी तथा बंगाली लिपियों का विकास जानने में भी सहायक है।"

यह तो स्पष्ट है कि भारत पर इस्लामी आक्रमण के काल के बाद से भारतीय धर्म-संस्कृति के प्रचार के लिए मंगोलिया नहीं गए। उन्हें अपने ही जानों के लाले पड़े थे। ऐसे में यह मानना पड़ता है कि वहाँ भारतीय ग्रंथ भारत में इस्लामी आक्रमण से पहले ही गए होंगे। यानी आज से लगभग 14-15 सौ वर्ष पहले भारतीयों का मंगोलिया तक संपर्क था और वह संपर्क इतना सघन था कि हमारा साहित्य वहाँ व्यापक हुआ था। इस प्रकार मंगोलिया भी चीन की बजाय भारत के अधिक नजदीक रहा है। आभ्यंतर मंगोलिया वास्तव में मंगोलिया का ही एक हिस्सा है।

भारत-चीन संबंधों का इतिहास

यही कारण है कि चीन आदि में भारत के राजनीतिक प्रभाव के सूत्र भी प्राप्त होते हैं। समझने की बात यह है कि भारतीय राजाओं ने कभी भी अपने उपनिवेश बनाने का प्रयास नहीं किया है। वे हमेशा स्थानीय शासन को ही वरीयता देते रहे हैं। इतिहास में ऐसे सैंकड़ों उदाहरण मिलते हैं, जिसमें भारतीय राजा ने किसी अत्याचारी राजा को मारा, परंतु फिर वहीं के किसी व्यक्ति को वहां का शासक बना दिया। भारतीय राजाओं ने हमेशा केवल धर्म के शासन को सुनिश्चित किया न कि किसी व्यक्ति या राजवंश के शासन को। यही कारण है कि पूरी दुनिया में भारतीय शासकों ने धर्म का शासन स्थापित किया था और उसके कारण वे वहां अत्यंत लोकप्रिय भी हुए थे। इसलिए आज की यूरोपीय औपनिवेशिक मानसिकता से यदि हम भारतीय राजनीतिक प्रभावों को तलाशने का प्रयास करेंगे तो संभवतः हमें कुछ भी हाथ नहीं लगेगा, परंतु यदि हम भारत की राजनीतिक परंपरा को ध्यान में रखेंगे तो हमें काफी कुछ प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिए कण्व वंश के शासकों का शासन जब खोतान पर था तब चीन से राजनयिक विवाह संबंध भी होते रहे हैं। वर्ष 68 में भारत से एक विद्वत् मंडल चीन बुलाया गया। इसका वर्णन रेवरेंड जोसेफ एडकिन्स ने अपनी पुस्तक चाइनिज बुद्धिज्म में किया है। एडकिन्स ने इसकी तुलना अफ्रीका से पहली बार यूरोप पहुँचे पहली ईसाई मिशनरी के साथ हुए व्यवहार से की है। भारतीय धर्मप्रचारकों को जहां शासकीय सम्मान और स्वागत मिला था, ईसाई मिशनरियों को बंदी बना लिया गया था और सार्वजनिक रूप से जलील करते हुए उन्हें बाहर खदेड़ दिया गया था। इससे अफ्रीका-यूरोप के संबंधों और साथ ही भारत-चीन के राजनीतिक संबंधों की जानकारी मिलती है। सांस्कृतिक स्वागत भी तभी होते हैं जब राजनीतिक संबंध प्रगाढ़ होते हैं।

एडकिन्स के इस वर्णन का साक्ष्य अनेक तिब्बती ग्रंथों से भी मिलता है। चंद्रगुप्त वेदालंकाल लिखते हैं, "अशोक द्वारा राजकीय सहायता मिलने से बौद्वधर्म भारत की प्राकृतिक सीमाओं को पार कर एशिया, योरुप और अफ्रीका तीनों महाद्वीपों में फैल गया। तदनन्तर कुशन राज कनिष्क ने बौद्वधर्म के प्रचारार्थ भारी प्रयत्न किया। इसी के समय पेशावर में चतुर्थ बौद्धसभा बुलाई गई। जिस समय पश्चिम-भारत में कुशान राजा राज्य कर रहे थे उस समय तक चीन में बौद्धधर्म का प्रचार प्रारम्भ हो चुका था।"

"चीनी पुस्तक 'को-वैन्-फिड्.-ची' से ज्ञात होता है कि चीन के 'हान' वंशीय राजा मिङ्ती ने 65 ई. में 18 व्यक्तियों का एक दूतमण्डल भारत भेजा जो लौटते हुए अपने साथ बहुत से बौद्ध ग्रन्थ तथा दो भिक्षु ले गया। इस प्रकार चीनी विवरण के अनुसार मिङ्ती के शासनकाल में ही चीन में प्रथम बार बौद्धधर्म प्रविष्ट हुआ। परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि यह दूतमण्डल भेजा क्यों गया? इसका उत्तर चीनी पुस्तकें इस प्रकार देती है,'' हान वंशीय राजा मिङ्ती ने अपने शासन के चौथे वर्ष में स्वप्न में 12 1/2 फीट ऊंचे एक स्वर्णीय पुरुष को देखा। उसनके सिर से सूर्य की भांति तीव्र प्रकाश निकल रहा था।

राजा की ओर आता हुआ वह दिव्य पुरुष महल में प्रविष्ट हुआ। स्वप्न से बहुत अधिक प्रभावित होकर राजा ने मंत्री से इस स्वप्न का रहस्य पूछा। मंत्री ने उत्तर दिया- आप जानते हैं कि भारतवर्ष में एक बहुत विद्वान् पुरुष रहता है जिसे बुद्ध कहा जाता है। यह पुरुष निश्चय से वही था। यह सुनकर राजा ने अपने सेनापति तथा 17 अन्य व्यक्तियों को महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का पता लगाने के लिये भारत भेजा।" यह कहानी बताती है कि चीन पर भारत का प्रभाव बौद्धों के आविर्भाव के पहले से रहा है। भारत में हो रही सभी गतिविधियों की जानकारी चीन के लोगों को बखूबी है। इतना ही नहीं, वे उनसे इतने प्रभावित हैं कि उनके राजा को उसके सपने तक आते हैं।

वेदालंकाल आगे लिखते हैं, "चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश की यह कथा तद्देशीय 13 अन्य ग्रन्थों में भी पाई जाती है। बिल्कुल यही कथानक तिब्बती ग्रन्थ 'तब्था-शैल्ख्यी-मीलन्' में भी इसी प्रकार संगृहीत है। इन सब ग्रन्थों के अनुसार चीन में बौद्धधर्म का सर्वप्रथम उपदेष्टा 'काश्यप् मातङ्ग' था। मातङ्ग इसका नाम था और क्योंकि यह कश्यप गोत्र में उत्पन्न हुआ था इसलिये यह काश्यप् मातङ्ग नाम से प्रसिद्ध था। यह मगध का रहने वाला था। जिस समय चीनी दूतमण्डल भारत आया तब यह गान्धार में था । दूतमण्डल की प्रेरणा पर यह चीन जाने को उद्यत हो गया। उस समय गान्धार से चीन जाने वाला मार्ग खोतान और गौबी के मरुस्थल में से होकर जाता था। मार्ग की सैकड़ों विपत्तियों को सहता हुआ कश्पय मातङ्ग चीन पहुंचा। चीन पहुंचने पर राजा ने इसके निवासार्थ 'लोयङ्.' नामक विहार बनवाया। मिङ्ती द्वारा भारतीय पण्डितों के प्रति पक्षपात दिखाने पर कन्फ्यूशस और ताऊ धर्म वालों ने बौद्धधर्म के विरुद्ध आवाज उठाई। इस पर तीनों धर्मों की परीक्षा की गई। इस परीक्षा में बौद्धधर्म सफल हुआ।"

"इस प्रकार चीन में बौद्धधर्म के जड़ पकड़ते ही भारतीय पण्डित इस ओर आकृष्ट हुए और बहुत बड़ी संख्या में चीन जाने लगे। प्रथम जत्थे में आर्यकाल, श्रमण सुविनय, स्थविर चिलुकाक्ष आदि के नाम उल्लेखनीय है। दूसरी शताब्दी के अन्य होने से पूर्व ही महाबल चीन गया। इसने लोयङ्. विहार में रह कर संस्कृतग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। तीसरी शताब्दी में धर्मपाल चीन गया और अपने साथ कपिलवस्तु से एक संस्कृत ग्रन्थ भी ले गया। 207 ई. में इसका अनुवाद किया गया। तदुपरान्त 'महायान इत्युक्तिसूत्र' का अनुवाद हुआ। 222 ई. में धर्मपाल चीन पहुंचा। इसने देखा कि चीनी लोग विनय के नियमों से सर्वथा अपरिचित हैं। ये नियम 'प्रातिमोक्ष सूत्र' में संगृहीत थे। धर्मपाल ने प्रातिमोक्ष का अनुवाद करना आरम्भ किया। 250 ई. में इसका पूर्णतया अनुवाद हो गया। विनय पिटक की यह प्रथम ही पुस्तक थी जो अनुदित की गई थी। 224 ई. में विघ्व और तुहयान, ये दो पण्डित चीन गये और अपने साथ धम्मपद सूत्र ले गये। दोनों ने मिलकर इसका अनुवाद किया। तीसरी शताब्दी समाप्त होते होते कल्याणरन, कल्याण और गोरक्ष चीन पहुंचे। ये भी अनुवादकार्य में जुट गये । इस प्रकार तीसरी शताब्दी तक निरन्तर भारतीय पण्डितों का प्रवाह चीन की ओर प्रवृत्त रहा। इस बीच में 350 बौद्धधर्मग्रंथ चीनी भाषा में अनुदित किये जा चुके थे। जनता में बौद्धधर्म के प्रति पर्याप्त अनुराग पैदा हो गया था और बहुत से लोग बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में आ चुके थे।"

कुल मिला कर कहा जा सकता है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले से लेकर वर्ष 1913 तक चीन की भौगोलिक रचना काफी छोटी थी और महाभारत काल में चीन भारत के कुरूराज के साम्राज्य से जुड़ा भी रहा है। भारत के लोग मध्य, पश्चिम और उत्तरी एशिया के सभी क्षेत्रों में इसी प्रकार आया जाया करते थे, जैसे आज हम भारत के किसी एक राज्य से दूसरे राज्य में चले जाया करते हैं। इस पूरे क्षेत्र में भारत की स्थिति राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से प्रेरक तथा नायक की थी। इस पूरे इलाके के लोग भारत को अपना श्रद्धा केंद्र मानते थे। चीन भी इसमें शामिल रहा है।

संदर्भ

1. वर्ल्ड इकोनॉमी, अंगस मेडिसिन, ओईसीडी प्रकाशन, 2006, पृष्ठ 263
2. https://timesofindia.indiatimes.com/city/guwahati/arunachal-pradesh-part-of-south-tibet-claims-china-again/articleshow/77992800.cms
3. https://www.chinasage.info/name-of-china.htm
4. https://www.ancient.eu/china/
5. डॉ. हेमेंद्र कुमार राजपूत, महाभारतकालीन भारत, 2015, वेद प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 93-98
6. शब्दकल्पद्रुम, चीयते, सञ्चीयते वृषलत्वादि। देशः।
7. https://www.history.com/topics/ancient-china/great-wall-of-china; https://whc.unesco.org/en/list/438/
8. https://www.theatlantic.com/magazine/archive/2009/11/the-nine-nations-of-china/307769/
9. https://www.theatlantic.com/magazine/archive/2009/11/the-nine-nations-of-china/307769/
10. ब्रिगेडियर जेपी दलवी (से.नि.), हिमालयन ब्लंडर, 1969, नटराज पब्लिशर, दिल्ली
11. पंडित चंद्रगुप्त वेदालंकार, बृहत्तर भारत, 1999, दयानंद संस्थान, दिल्ली, पृष्ठ 49
12. वही, पृष्ठ 53
13. वही, पृष्ठ 57
14. वही, पृष्ठ 57
15. वही, पृष्ठ 63-64
16. डॉ. शशिबाला, आचार्य रघुवीर, 2017, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 96-97
17. जोसेफ एडकिन्स, चाइनीज बुद्धिज्म,
18. पंडित चंद्रगुप्त वेदालंकार, बृहत्तर भारत, 1999, दयानंद संस्थान, दिल्ली, पृष्ठ 72
19. पंडित चंद्रगुप्त वेदालंकार, बृहत्तर भारत, 1999, दयानंद संस्थान, दिल्ली, पृष्ठ 74

विभिन्न शताब्दियों में चीन का क्षेत्र

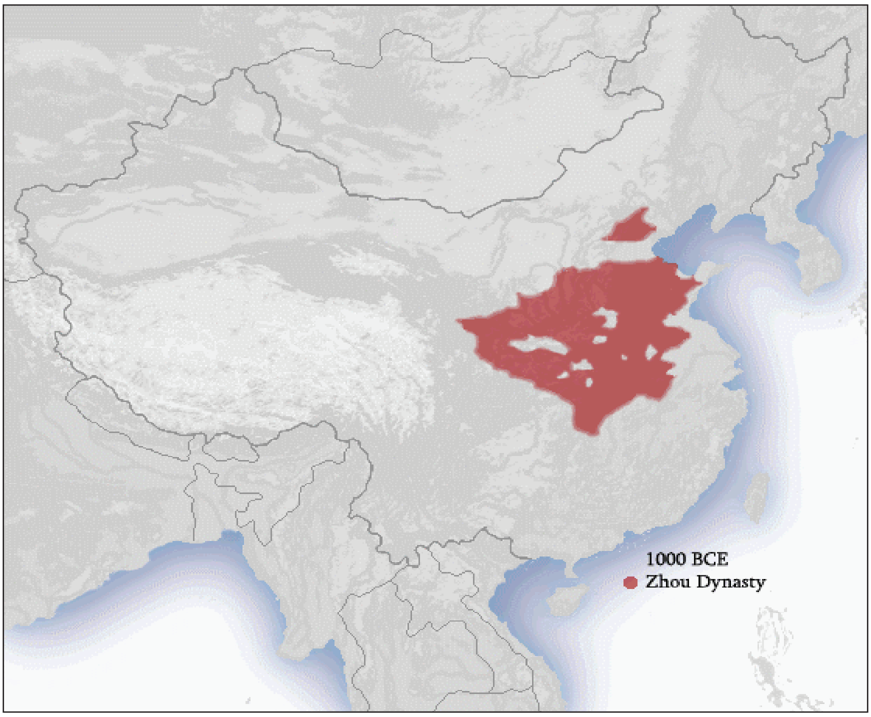

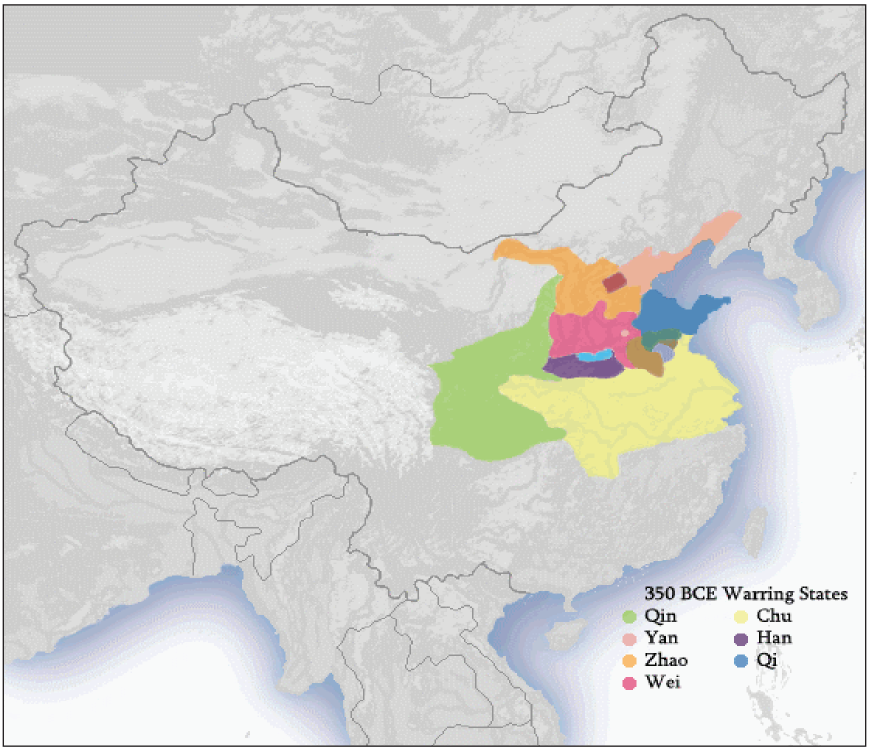

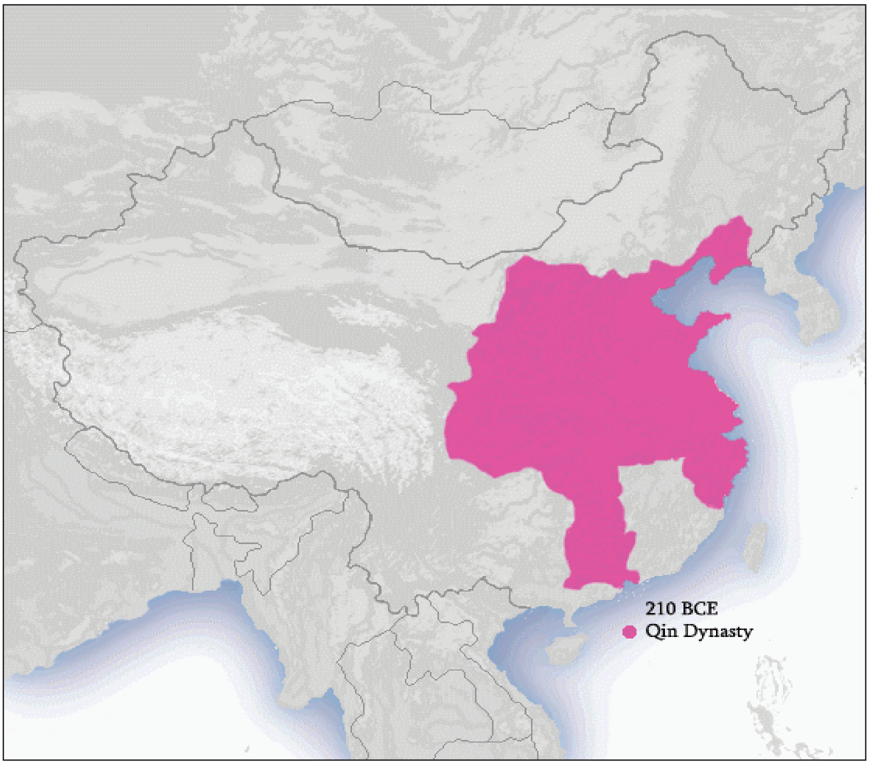
210 BCE
Qin Dynasty

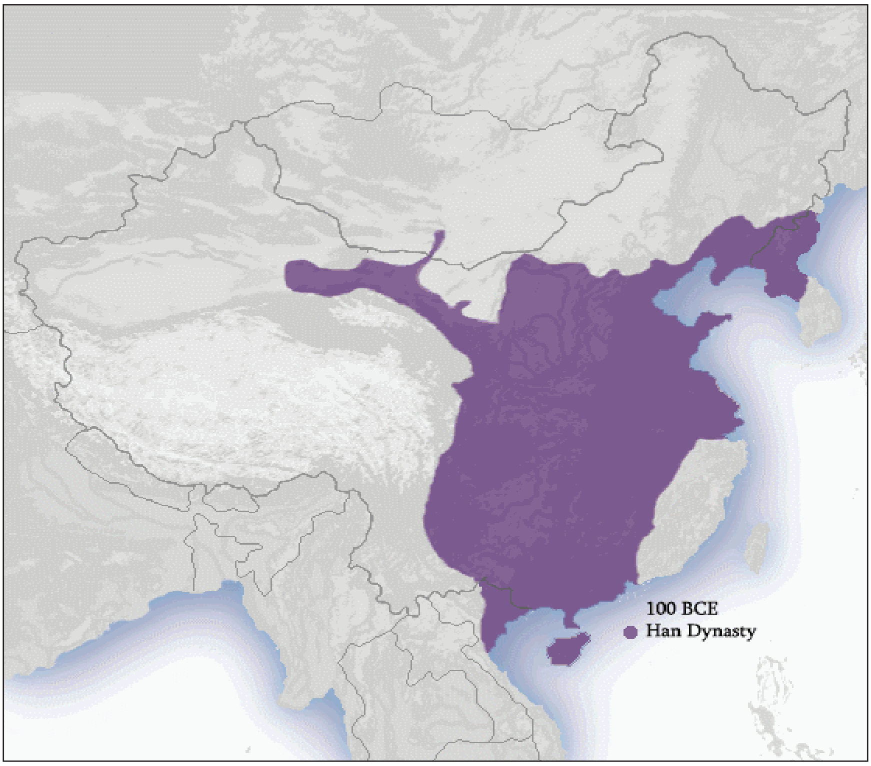
100 BCE
Han Dynasty

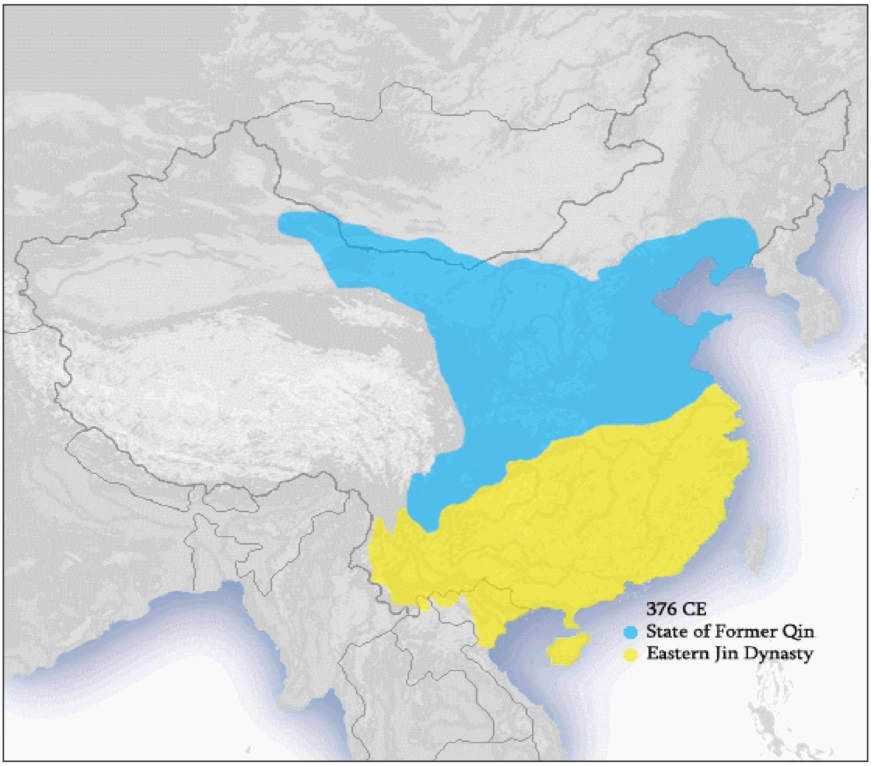
376 CE
State of Former Qin
Eastern Jin Dynasty

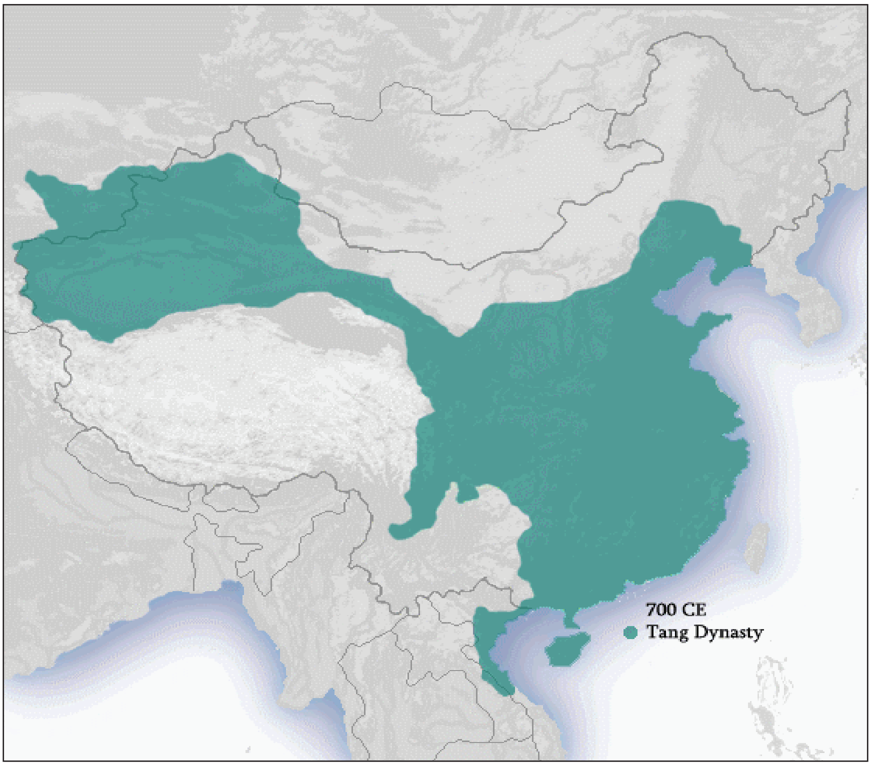
700 CE
Tang Dynasty

1294
Yuan Dynasty

1410
Ming Dynasty

19वीं शताब्दी में ग्रेट गेम की छाया

✍ रवि शंकर*, डॉ. राहुल पांडेय**

लेखक वरिष्ठ पत्रकार, इतिहासविद और सभ्यता अध्ययन केंद्र के निदेशक हैं।

लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के शिवाजी कॉलेज में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

भारत और चीन के संबंधों में आई वर्तमान समस्या को समझने के लिए हमें पिछले दो सौ वर्षों में जम्बूद्वीप यानी पूरे यूरेशिया में जो राजनीतिक खेल खेला गया, उसे समझना होगा। यह खेल द ग्रेट गेम के नाम से जाना जाता है जो कि यूरोप के दो देशों ब्रिटेन और रूस ने एशिया पर अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए खेला। हालाँकि इस ग्रेट गेम में मुख्य रूप से ब्रिटेन और रूस ही शामिल थे, परंतु यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो इसमें यूरोप के अन्यान्य देशों की भी कम भूमिका नहीं थी। यह समझने की बात है कि भले ही ऊपरी तथा दिखावटी तौर पर कम्युनिज्म को अमेरिका तथा ब्रिटेन का विरोधी माना गया और इन दोनों में काफी झगड़े भी दिखते हैं, परंतु सच यह है कि कम्युनिज्म को स्थापित करने का काम भी अमेरिका और ब्रिटेन जैसे देशों का ही काम था। एशिया में जब भरपूर प्रयासों के बाद भी ईसाइयत उस ढंग से नहीं फैल सकी, जैसा कि पोपशाही चाहती थी, तो उन्होंने कम्युनिज्म को फैलाने का यह दूसरा मार्ग अपनाया। हमें ज्ञात होना चाहिए कि 11वीं शताब्दी में क्रूसेड के प्रारंभ होने के समय से ही पोपशाही पूरब के किसी एक शक्तिशाली ईसाई सम्राट प्रेस्टर जॉन के अस्तित्व पर विश्वास करती आई थी। उन्हें विश्वास था कि मुसलमानों के विरूद्ध क्रूसेड में प्रेस्टर जॉन उनकी सहायता करने अवश्य आएगा। परंतु ऐसा कभी हुआ नहीं। फिर जब मंगोल सम्राट चंगेज खाँ ने बगदाद पर आक्रमण करके खलीफा को भूमिशात कर दिया, तो पोपशाही को लगा कि यह प्रेस्टर जॉन का ही कोई वंशज है और इसलिए तभी से मंगोलों को ईसाई बनाने के प्रयास प्रारंभ कर दिए गए थे।[1] उनके दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ, मंगोल सम्राटों ने ईसाइयत को अस्वीकार कर दिया। कालांतर में मंगोल सम्राट बौद्ध हो गए, क्योंकि वे पूर्व से ही वैदिक सनातन परंपराओं के पालक रहे थे। परंतु कुछेक मंगोल सरदारों जो कि अरब, मध्य एशिया और कैस्पियन सागर के आसपास के क्षेत्रों में राज कर रहे थे, ने इस्लाम भी स्वीकार कर लिया। यह ईसाइयों के लिए बहुत ही घातक हुआ। हालाँकि आर्थोडॉक्स ईसाई मत के अनुयायी रूस के शासक जार ने मुसलमानों पर भी लगभग पाँच सौ वर्षों तक शासन किया, परंतु मुसलमानों में जार के विरूद्ध भी भावनाएं जोर मारती ही रहती थीं, क्योंकि उनकी सहायता के लिए पड़ोस में ही इस्लामी राज्य भी थे।[2]

इस पृष्ठभूमि में ईसाई रूस में रिलीजियनविरोधी कम्युनिज्म का उदय हुआ, जिसे खाद-पानी देने का काम कम्युनिज्म के विरोधी समझे जाने वाले यूरोपीय देशों ने ही किया। यह अनुसंधान करना काफी रोचक हो सकता है कि लेनिन को आर्थिक सहायता देने वाले कौन थे। यह अनुसंधान करना भी कठिन नहीं है, बल्कि काफी रोचक साबित होगा कि आज भी भारतसहित अन्य देशों की कम्युनिस्ट संस्थाओं जो एनजीओ के रूप में कार्यरत हैं, को सर्वाधिक आर्थिक सहायता कहाँ से प्राप्त होती है। इन अनुसंधानों

से यह बात ठीक से समझी जा सकती है। बहरहाल, स्थिति यह थी कि रूस और ब्रिटेन दोनों को मध्य एशिया में गैरइस्लामी और गैरसनातनी व्यवस्था को बढ़ाना था। इसके लिए दोनों की मिलीभगत से एक नूराकुश्ती का खेल खेला गया, जिसके माध्यम से मध्य एशिया में कम्युनिज्म, जोकि प्रत्यक्षतः तो रिलीजियनविरोधी होने के कारण ईसाइयत का विरोधी था, परंतु प्रत्यक्षतः उसका सहायक ही साबित हुआ है, को बढ़ाने का भरपूर प्रयास हुआ। इस ग्रेट गेम के कारण रूस सूदूर पूरब में मंगोलिया और मंचुरिया जैसे देशों पर कब्जा करने में सक्षम हुआ और ब्रिटेन ने अफगानिस्तान तथा तिब्बत पर कब्जा पाया। इसी क्रम में चीन में कम्युनिज्म को स्थापित किया गया और वहाँ की कम्युनिस्ट सरकार को पूरे मध्य एशिया पर कब्जा दिलाने का मार्ग प्रशस्त करने के प्रयास भी हुए। इसके लिए सिल्क रूट जैसी मिथ्या अवधारणाएं गढ़ी गई।[3] इन मिथ्या अवधारणाओं के आधार पर ही चीन ने ग्रेट गेम के उत्तरार्ध में तिब्बत और सिक्यांग पर कब्जा प्राप्त किया, जिन पर रूस और ब्रिटे दोनों ही कब्जा नहीं कर पा रहे थे और इन्हीं मिथ्या अवधारणाओं के आधार पर आज चीन की वर्तमान कम्युनिस्ट सरकार ओबोर और उसके पश्चात् बीआरआई इनिशिएटिव जैसे प्रयास कर पा रही है।

प्रत्यक्षतः ऐसा दिखाया गया कि ब्रिटेन तथा रूस दोनों मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान पर एक दूसरे के डर से अधिकार चाहते थे। ब्रिटेन मध्य एशिया में फैल रहे रूसी साम्राज्य को भारत की तरफ बढ़ते कदम की तरह देखता था, जबकि रूसी शासक ब्रिटेन को मध्य एशिया में हस्तक्षेप करने से रोकना चाहते थे। अंग्रेज में ब्रिटेन तथा रूस की इस औपनिवेशिक द्वंद्व को ग्रेट गेम के नाम से प्रचारित किया गया जो द्वितीय विश्वयुद्ध तक ही चला। इस नाम को प्रथमतया प्रयुक्त करने का श्रेय आर्थर कॉनेली को जाता है जिसको बाद में रुडयार्ड किपलिंग ने अपने उपन्यास किम में इस्तेमाल किया। रूस के तत्कालीन विदेश मंत्री के. वी. नेस्सेलरोड ने इसे छायाओं की प्रतियोगिता कहा।[4] इस प्रकार द ग्रेट गेम एक रणनीतिक शब्दावली है जो उस शत्रुता और प्रतिस्पर्धा को व्यक्त करने के लिये प्रयोग की गई जो ब्रिटेन और रूस के बीच एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये उन्नीसवी सदी के दौरान में मध्य एशिया में जारी थी। द ग्रेट गेम की शुरुआत 12 जनवरी 1830 को हुई जब भारत सचिव लॉर्ड एलेनबोरो ने गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक को बुखारा के अमीरात के लिए एक नया व्यापार मार्ग स्थापित करने का काम सौंपा। ब्रिटेन अफगानिस्तान के अमीरात पर नियंत्रण पाने और इसे एक संरक्षित क्षेत्र बनाने और ओटोमन साम्राज्य, फारसी साम्राज्य, खैवा के खाने और बुखारा के अमीरात का उपयोग करने की मंशा रखता था।

द ग्रेट गेम का रचयिता कैप्टन आर्थर कॉनली को माना जाता है, जिन्हें राजनीतिक अधिकारी के रूप में नियुक्त किया गया था। द ग्रेट गेम इन एशिया नामक पुस्तक में पहली बार अकादमिक रूप से प्रोफेसर एचडब्ल्यूसी डेविस द्वारा इसका इस्तेमाल किया गया था।[5] एंग्लो-रूसी प्रतिद्वंद्विता का वर्णन करने के लिए द ग्रेट गेम शब्द का उपयोग मध्य एशिया में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही आम हो गया था। इस रणनीतिक खेल में अगर रूस को अफगानिस्तान के अमीर पर नियंत्रण हासिल करना था, तो ब्रिटेन भारत को रूसी आक्रमण के लिए एक मंच के रूप में इस्तेमाल करना चाहता था।

इस पूरे प्रकरण में समझने की बात यह है कि रूस और ब्रिटेन अधिकांश समय साथ बने रहे। कभी वे अलग भी दिखे, परंतु वह केवल रणनीतिक अलगाव था, वह कभी भी सशस्त्र संघर्ष में नहीं बदला। रूस और ब्रिटेन में कभी भी सैन्य संघर्ष नहीं हुआ। इसलिए उनके बीच जो उठापटक हुई, उसे गेम यानी खेल की संज्ञा दी गई। यह उनके लिए एक खेल था, मध्य एशिया में अपना वर्चस्व स्थापित करने का खेल और इस खेल में उनका संघर्ष भारत तथा इस्लाम से था। इंग्लैड और रूस के इस खेल को एक घटनाक्रम से अच्छी तरह समझा जा सकता है। वर्ष 1800 में रूसी शासक पॉल एक, जो कि पहले परिवर्तनकारी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में ब्रिटेन का साथी था, ने अपनी नीति को उलटते हुए अंग्रेजशासित

भारत पर आक्रमण करने की नेपोलियन बोनापार्ट की योजना में शामिल हो गया। इस योजना का कुछ भी नहीं हो पाया, क्योंकि मार्च, 1801 में पॉल एक की हत्या हो गई, जिसका संदेह ब्रिटिश सीक्रेट एजेंटों पर था। नए जार एलेक्जैंडर प्रथम फिर से युद्ध में शामिल हुआ, परंतु अंग्रेजों द्वारा आश्वासन दिए जाने के बाद भी दूसरा मोर्चा नहीं खोले जाने पर उसने स्वयं से नेपोलियन के साथ संधि कर ली, जोकि उस समय यानी 25 जून, 1807 की तिलसित की संधि के समय फ्रांस का शासक था। उन दोनों शासकों ने इंग्लैंड के प्रति अपनी नफरत को आधार बना कर यूरोप से ओट्टोमन तुर्कों को लाकर भारत के लिए एक नया रास्ता खोलने का प्रयास किया। हालाँकि 1810 के अंत तक फ्रांसीसी साथियों के लिए एलेक्जैंडर का उत्साह समाप्त हो गया, और उसने अंग्रेजों के लिए फिर से अपने बंदरगाह खोल दिए। जून, 1812 में नेपोलियन द्वारा रूस पर आक्रमण किये जाने का कारण यही था कि रूस और ब्रिटेन फिर से गलबहियाँ करने लगे थे और एलेक्जैंडर प्रथम पश्चिमी लिबरलों का प्रिय साथी बन गया था। वर्ष 1815 में नेपोलियन के पूरी तरह पराजित हो जाने के बाद अंग्रेजों का विचार काफी बदल गया था, जैसा कि वर्ष 1945 में जर्मनी की पराजय के बाद बदल गया था। तब रूस उनके लिए यूरोप को एक तानाशाह से मुक्ति दिलाने वाला बहादुर साथी नहीं रह गया था, बल्कि वह अंग्रेजों के साम्राज्यिक हितों के लिए एक खतरे के रूप में देखा जाने लगा था।[6]

इस लंबे उद्धरण से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, यह कि ब्रिटेन और फ्रांस की चिर शत्रुता को छोड़ कर यूरोप के विभिन्न देश आपस में विभिन्न कारणों से लड़ने के बाद भी मूलतः आपस में साथी ही रहे हैं। दूसरी बात यह स्पष्ट है कि भारत पर कब्जा करने के लिए उनमें एक प्रतिस्पर्धा हमेशा रही है। इसे हम भारत में विभिन्न यूरोपीय देशों की ईस्ट इंडिया कंपनियों में हुई लड़ाइयों के रूप में देख सकते हैं। इंग्लैंड और रूस भी भारत पर कब्जा करने के लिए यह ग्रेट गेम खेल रहे थे। यह प्रतिस्पर्धा थी, युद्ध नहीं, क्योंकि भारत उनका सामूहिक निशाना था, भारत के विरुद्ध वे एक-दूसरे के साथी ही थे। इन दो सामान्य निष्कर्षों को ध्यान में रखें तो फिर इस द ग्रेट गेम और उसके परिणामों को समझने में सरलता होगी।

ब्रिटेन का मानना था कि वह दुनिया का पहला स्वतंत्र समाज और सबसे अधिक औद्योगिक रूप से उन्नत देश था और इसलिए उसका कर्तव्य था कि वह मध्य एशिया पर कब्जा करने और इसे विकसित करने के लिए अपनी लोहे, भाप शक्ति और कपास के सामान का उपयोग करे। काम और सुरक्षा के लिए भुगतान के साथ, खानाबदोश लोग पहले से बसे हुए अन्य नगरों के आसपास के आदिवासी झुंड बन जाएंगे। ये आधुनिक सीमाओं के अनुसार आधुनिक राज्यों के रूप में विकसित होने थे, जैसा कि यूरोपीय मॉडल में होता आया था। ब्रिटेन को डर था कि फारस और तुर्की रूस के संरक्षण में चले जाएंगे। ब्रिटेन का मध्य पूर्व में शामिल होने का कोई इरादा नहीं था, लेकिन इसने ब्रिटिश और रूसी साम्राज्यों के बीच बफर राज्यों की एक श्रृंखला की कल्पना की, जिसमें तुर्की, फारस, प्लस खैवा और खानखाना के बुखारा शामिल थे जो भविष्य के व्यापार से केंद्र बनने वाले थे। उसकी योजना में इन बफर राज्यों के पीछे उनके संरक्षित राज्य होने थे, जो फारस की खाड़ी से भारत तक और अफगानिस्तान के अमीरात में फैलेंगे, ब्रिटिश समुद्री-शक्ति के साथ व्यापार समुद्र-गलियों की रक्षा करेंगे। स्टीम से चलने वाली नावों का उपयोग करते हुए सिंधु और सतलज नदियों के साथ व्यापार मार्गों के माध्यम से अफगानिस्तान तक पहुंच थी,और इसलिए सिंध और पंजाब क्षेत्रों के माध्यम से पहुंच की आवश्यकता पड़ती।

यहाँ हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ब्रिटेन और रूस दोनों को ही शीघ्र ही ध्यान में आ गया था कि ईरान से लेकर अफगानिस्तान तक का भारतीय क्षेत्र इतना सरल क्षेत्र नहीं था कि वहाँ वे सैनिक अभियान चला पाते। यह इलाका बहुत ही दुर्गम था और है। पीटर हॉपकिर्क लिखते हैं, "उसकी (नेपोलियन की) योजना थी कि फारस और अफगानिस्तान में 50,000 सैनिक भेज दे, जहाँ

एलेक्जैंडर की सेना भारत की ओर अंतिम धक्का देने में उसका साथ देने के लिए मिल जाती। परंतु यह यूरोप नहीं था, जहाँ तैयार सामग्री, सड़कें, पुल और अनुकूल जलवायु मिलती, और नेपोलियन की इसकी बिल्कुल भी कल्पना नहीं थी कि इस मार्ग में उसकी सेना को कितनी कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। जलविहीन मरुस्थल और पहाड़ी बाधाओं के इस इलाके के बारे में उसकी अज्ञानता की तुलना केवल ब्रिटिशों की इस बारे में अज्ञानता से ही की जा सकती थी। उस समय तक, मूल रूप से समुद्री मार्ग से भारत आने वाले अंग्रेजों ने भारत आने वाले रणनीतिक स्थलमार्गों पर न्यूनतम ध्यान ही दिया था। उनका अधिकाधिक ध्यान समुद्री मार्ग को अबाध रखने पर था।"[7] इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेज और रूसी, दोनों के लिए ही वर्तमान भारत के पश्चिमोत्तर का इलाका दुर्गम्य था। इसलिए वे बातें चाहे जितनी कर लेते, वहाँ सैन्य अभियान चलाना उनके बस की बात नहीं थे। इसमें तुर्क और पठान ही सिद्धहस्त रहे थे। लगभग यही स्थिति तिब्बत और सिक्यांग की भी थी। इसलिए तिब्बत और सिक्यांग में भी ब्रिटेन ने भारत के सदियों पुराने राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंधों के बाद भी कब्जा करने का प्रयास नहीं किया। तिब्बत का प्रारंभिक अध्ययन करने के बाद उन्होंने इस इलाके को भी अनाथ छोड़ने का ही निर्णय कर लिया था।

वस्तुतः ब्रिटेन और रूस दोनों ने ही यह समझ लिया था कि वे सैन्य अभियानों से भारत के पश्चिमोत्तर के मरुस्थल और विकटतम पहाड़ी क्षेत्रों को कब्जा नहीं कर सकते और इसलिए उन्होंने इनके बंदरबाँट की नीति अपनाई। इस बंदरबाँट का मूल उद्देश्य इस पूरे क्षेत्र का अभारतीयकरण ही था। ग्रेट गेम के रचनाकारों में से एक आर्थर कॉनली के बारे में पीटर हॉपकिर्क लिखते हैं, "अपनी पीढ़ी के लोगों की सामान्य समझ के अनुसार कॉनली भी ईसाइयत के दुनिया को सिविलाइज बनाने के उद्देश्य और इसके अनुयायियों द्वारा ईसाइयत द्वारा मुक्ति के संदेश का प्रचार किये जाने के कर्तव्य में विश्वास करते थे। ईसाइयत पर आधारित होने के कारण ब्रिटिश शासन बर्बर लोगों के लिए एक वरदान था। यहाँ तक कि रूसी शासन भी यदि वह भारत की सीमा से दूर रहे तो, मुस्लिम शासकों की तुलना में अधिक अच्छा माना जाता था, क्योंकि अंततः रूसी एक प्रकार से ईसाई ही थे।"[8] ध्यान रहे कि अंग्रेज अधिकांशतः प्रोटेस्टैंट ईसाई हुआ करते थे जबकि रूसी कैथोलिक ईसाई थे। अपने रिलीजियस झगड़ों के बाद भी ईसाइयत के विस्तार के लक्ष्य में दोनों एकमत थे। अपने इसी ईसाइकरण के उद्देश्य के साथ कॉनली मध्य एशिया में सक्रिय हुआ था। उसके लिए एशिया में रूस का फैलाव भी सही था, बशर्ते कि वह भारत की ओर न देखे।

इसलिए ब्रिटेन की रूचि केवल इसमें थी कि रूस भारत में प्रवेश करने का प्रयास न करे, भले ही वह उसके ऊपर के पूरे मध्य एशिया और उत्तर एशिया को कब्जा कर ले। उल्लेखनीय बात यह है कि अफगानिस्तान से लेकर खुरासान के क्षेत्र का रणनीतिक तथा सुरक्षात्मक महत्त्व अंग्रेज भी समझने लगे थे और रूस भी। यह बात प्राचीन काल के सभी भारतीय राजा समझते थे। इसलिए सभी ने इस क्षेत्र को अपने प्रभाव में रखने का भरपूर प्रयास किया था। आज भी आतंकवादी संगठन आईएसआईएस ने भारत में अपने पैर फैलाने के लिए खुरासान मिशन ही प्रारंभ किया है।[9] इस रणनीतिक तथा सुरक्षात्मक महत्त्व के कारण भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्रों में देशी शासकों द्वारा नियंत्रित किए जाने वाले रियासतों के कुछ हिस्सों पर ब्रिटिशों ने ध्यान देना प्रारंभ किया। इसी कारण से पंजाब, जम्मू एवं कश्मीर, लद्दाख और लाहौर के तत्कालीन प्रचलित सिख शासन का परिसीमन किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस ग्रेट गेम का अगला हिस्सा प्रारंभ हुआ। तब तक रूस और ब्रिटेन दोनों ही समझ चुके थे कि उन्हें इन क्षेत्रों में एक और साथी चाहिए। इसके लिए उन्होंने चीन को चुना। इस कालखंड में चीन भी अपने लिए साथी की तलाश में था। वह जापान के आक्रमणों से परेशान था। जापान के आक्रमणों से रूस और अमेरिका भी त्रस्त थे। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान एक प्रमुख एशियायी ताकत के रूप में उभर रहा था। जापान का

उदय यूरोप के नस्लीय श्रेष्ठत्व के दावे को नष्ट कर रहा था। यूरोपीयों को साम्राज्य के खोने से अधिक चिंता अपनी इस नस्लीय श्रेष्ठता के दावे को बचाने की थी। इसके लिए उन्हें ऐसे रणनीतिक साथी की आवश्यकता थी, जो उनकी इस श्रेष्ठता को फिर से स्थापित करें और उनके आर्थिक हितों की भी सुरक्षा करते रहें।[10] यह द ग्रेट गेम का पहला भाग था। यह लगभग प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक चला। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसका दूसरा भाग प्रारंभ हुआ, जिसमें चीन की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती गई।

द ग्रेट गेम के दूसरे भाग में चीन का विस्तार प्रारंभ हुआ। इसका एक हेतु भारत को राजनीतिक रूप से नियंत्रण में रखना भी था। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक ब्रिटेन को समझ में आ चुका था कि भारत पर कब्जा बनाए रखना उनके लिए संभव नहीं रहेगा। भारत के संसाधन उन्हें उपलब्ध होते रहें, इसके लिए आवश्यक था कि भारत हमेशा राजनीतिक दबाव में रहे। इसके लिए दो उपाय किए गये। पहला उपाय था भारत का विभाजन और दूसरा उपाय था मध्य एशिया से होते हुए यूरोप तक जाने वाले व्यापारिक मार्गों, जिसे कि भारतीय इतिहास में उत्तरापथ कहा जाता था और जिसे आज की भाषा में सिल्क रूट कहा जाता है, से उसे अलग-थलग कर देना। इसीलिए अंग्रेजों के भारत छोड़ते ही कबायलियों के माध्यम से पाकिस्तान द्वारा कश्मीर का एक बड़ा हिस्सा कब्जा कर लिया गया। इसके तुरंत बाद तिब्बत और सिक्यांग पर चीनी कब्जा भी इसी रणनीति का हिस्सा था। वस्तुतः 1860 के बाद से ही चीन को यूरोपीय लोगों ने विशेष महत्त्व देना प्रारंभ किया था। 19वीं शताब्दी से पहले पूरे यूरोपीय साहित्य में चीन का नगण्य नामोल्लेख ही मिलता है जबकि इंडिया यानी भारत उनकी वास्तविकता से लेकर परिकल्पनाओं तक में छाया मिलता है। 14-15वीं शताब्दी में उनके समस्त अभियान भारत आने के लिए हो रहे थे, न कि चीन आने के लिए। वे तो चंगेज खाँ आदि को भी भारतीय ही समझते थे। यही कारण भी था कि मार्को पोलो के यात्रा वृत्तांत जोकि बड़े पैमाने पर चीन का यात्रा वृत्तांत था, भारत का नहीं, से आकर्षित होकर कोलम्बस जिस अभियान पर निकला, वह भी भारत को ही खोजने का अभियान था, चीन को खोजने का नहीं।[11] इसलिए हम कह सकते हैं कि 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध से जो ग्रेट गेम के नाम पर ब्रिटेन और रूस ने तमाशा खड़ा किया, उसमें सभी ने ठीक-ठाक योगदान दिया। वर्ष 1877 में पहली बार भारत के उत्तरापथ को भारत के बजाय चीन से जोड़ते हुए सिल्क रोड का नाम दिया गया और बाद में सभी ने उसकी आलोचना करने और उसे गलत बताने के बाद भी सिल्क रोड नाम का प्रयोग जारी रखा।[12]

मध्य एशिया में जिस काम को करने के कॉनली ने ग्रेट गेम का प्रारंभ किया था, वह काम चीन में भी जोर-शोर से जारी था। बड़ी संख्या में ईसाई मिशनरियां चीन में अपना फैलाव बढ़ाने में जुटी थीं। विशेषकर 20वीं शताब्दी में इस काम में काफी तेजी आई। ऑड आर्ने वेस्टेड लिखते हैं, "चीन में रिलीजियन, कुछेक मामलों को छोड़ कर जब शासकों ने इसे नियंत्रित करना चाहा या फिर उन्हें इसके माध्यम से ताकत अर्जित करने की इच्छा हुई, शासकीय चिंता का विषय कभी नहीं रहा। इसकी बजाय यह गरीबों और वंचितों के लिए जीने का सहारा बना रहा, जिसने उन्हें जीने का अर्थ समझाया और पुनर्जन्म की आशा बंधाई। चीन में भारत से आयातित बौद्ध मत ने सदियों तक इस भूमिका का निर्वहन किया। 19वीं शताब्दी में एक विदेशी आयात के रूप में ईसाइयत चीन में एक महत्त्वपूर्ण रिलीजियन के रूप में उभरा। रिलीजियन के प्रति पिछले 20 वर्षों के नए दृष्टिकोण के उदय होने तक 1900 से 1920 के दो दशक चीन में ईसाई दशक थे। इस कालखंड में 20-30 लाख चीनी इस विदेशी मत में परावर्तित हुए, जोकि एक विदेशी मिशनरी उपक्रम से स्थानीय प्रक्रिया में बदल गया था। परंतु मिशनरियों का प्रभाव चीन में बढ़ता ही गया, विशेषकर उन विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के माध्यम से जिनकी उन्होंने स्थापना की थी। इन संस्थाओं से भले ही मिशनरियों की अपेक्षाओं के अनुरूप बड़ी संख्या में मतांतरित ईसाई न बने हों, परंतु इनमें शिक्षित चीनियों ने उनमें से बहुतों को प्रभावित किया, जिन्होंने

20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चीन को बदल डाला, भले ही उनके मिशनरी शिक्षकों ने इसे ठीक से नहीं पहचाना।"[13]

ईसाइकरण ने चीन में विदेशी साम्यवादी प्रभाव को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऊपरी तौर पर भले ही रिलीजियन यानी ईसाइयत और साम्यवाद परस्पर विरोधी और शत्रु दिखते हों, परंतु वस्तुतः आत्मिक तौर पर दोनों में एकात्मता अंतर्निहित है। ईसाइयत ने ही परोक्ष रूप से साम्यवाद को प्रश्रय देकर विश्व में विशेषकर गैरईसाई स्थानों में फैलने का आधार उपलब्ध कराया। साम्यवाद ने भी परोक्ष रूप से गैरईसाई स्थानीय मतों का उच्छेद करने और उनका छद्मईसाईकरण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। चीन में भी यह प्रक्रिया खुल कर अपनाई गई। वेस्टेड लिखते हैं, "19वीं शताब्दी में यूरोपीय राज्यों के दबाव में आए अन्य देशों की ही भाँति चीन के भी मुख्य विदेशनीति सलाहकारों ने कूटनीति, कानून और सैन्य मामलों पर ध्यान दिया। बाद में वे ढाँचागत विकास से स्वास्थ्य, शिक्षा, भाषायी सुधार और प्रोपेगैंडा आदि चीनी सरकार के विभिन्न विभागों से जुड़ गए। किन साम्राज्य के अंतिम दिनों तथा रिपब्लिक के प्रारंभिक शासन में जापानी प्रमुख भूमिका में थे, और कम्युनिस्ट शासन के प्रारंभ में अधिकांशतः रूसी प्रभावी भूमिका में रहे।"[14] चीन पर रूसियों के बढ़ते प्रभाव के कारण चीन में यूरोपीय जिसे कि हम प्रकारांतर से ईसाई प्रभाव कह सकते हैं, की छाया बढ़ी, जिसके कारण वहाँ विस्तारवादी साम्यवाद मजबूत हुआ। इस यूरोपीय विस्तारवादी साम्यवाद ने चीन की मूल संस्कृति को भी गंभीर रूप से कमजोर करने का काम किया है। आधुनिक साम्यवादी चीन के विकास में रूस के साथ साथ अमेरिका की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। परंतु बाद में चीन की साम्यवादी सरकार वापस सोवियत रूस के साथ हो गई। इस प्रकार यूरोप और नवयूरोप दोनों का चीन की साम्यवादी सरकार को परोक्ष तथा प्रत्यक्ष समर्थन रहा जिसके बल पर उन्होंने पूरे एशिया में अपने हितों का संरक्षण सुनिश्चित किया।

साम्यवादी चीन के मुखापेक्षी इसी नीति की शह पर वर्ष 1962 में चीन जोकि तिब्बत पर कब्जा करने के कारण भारत की सीमा पर पहुँच चुका था, ने तत्कालीन भारत के एक बड़े भूभाग पर कब्जा कर लिया। यह भूभाग पंडित नेहरू के शब्दों में भले ही अनुत्पादक था, परंतु यह व्यापारिक मार्ग उत्तरापथ का हिस्सा था। यही कारण भी था कि चीन की साम्यवादी सरकार की इस पर दृष्टि थी। इस प्रकार हम पाते हैं कि चीन के साम्यवादी सरकार की आक्रामकता अनायास नहीं है, इसके पीछे यूरोप के देशों की सुनिश्चित चालें हैं। एशिया में अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए रूस, ब्रिटेन और अब अमेरिका जो खेल खेलते रहे हैं, उसे उन्होंने स्वयं ही युद्ध या संघर्ष नहीं, बल्कि एक ग्रेट गेम यानी महान खेल की संज्ञा दी। इसका सीधा परिणाम भारत को झेलना पड़ा। यह देखना रोचक हो सकता है कि ब्रिटेन, रूस, अमेरिका और चीन की साम्यवादी सरकार, चारों ही भारत के शत्रु हाथों में पड़ने अथवा विश्व में असुरक्षित पड़ जाने की चर्चा करते रहे हैं। सभी की चिंता यही रही है कि भारत परस्पर युद्धरत विश्व में कैसे स्वयं को बचा सकेगा। परंतु वास्तव में इस चिंता के पीछे भारत और उसके समस्त आर्थिक संसाधनों को अपने कब्जे में रखने की मानसिकता ही रही है। इस ग्रेट गेम का प्रत्यक्ष निशाना चाहे रूस दिखे या ब्रिटेन या फिर अफगानिस्तान के तालिबानी, वस्तुतः इसका मुख्य निशाना पहले भी भारत था, और आज भी भारत ही है।

संदर्भ

1. निगेल क्लिफ, द लास्ट क्रूसेड, 2015, पृष्ठ
2. रॉबर्ट डि क्रियुज, द प्रोफेट एंड जार, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 2006
3. रवि शंकर, आस्था भारती,
4. नरेंद्र सिंह सरिल, द शैडो ऑफ द ग्रेट गेम, कांस्टेबल, लंदन, 2006, पृष्ठ 14

5. मैल्कॉम यैप, द लीजेंड ऑफ द ग्रेट गेम, प्रोसीडिंग्स ऑफ द ब्रिटिश एकेडेमी, मई, 2000
6. टी. ए. हीथकोट, बलोचिस्तान, ब्रिटिश एंड द ग्रेट गेम, हर्स्ट एंड कंपनी, लंदन, 2015, पृष्ठ 21-22
7. पीटर हॉपकिर्क, द ग्रेट गेम, जॉन मुरे प्रकाशन, 2006, पृष्ठ
8. वही, पृष्ठ
9. विवेक भटनागर, भारतीय धरोहर,
10. नरेंद्र सिंह सलिल, उपरोक्त, पृष्ठ 101-102
11. रवि शंकर, भारत में यूरोपीय यात्री,
12. रवि शंकर, आस्था भारती,
13. ऑड आर्ने वैस्टेड, रेस्टलेस एंपायर, चीन एंड द वर्ल्ड, 2012, द बॉडली हेड, लंदन, पृष्ठ 189
14. वही, पृष्ठ 193

तिब्बती धर्म चिंतन और साहित्य में संस्कृत की भूमिका

✍ विजय क्रांति

लेखक वरिष्ठ पत्रकार और तिब्बत मामलों के विशेषज्ञ हैं।

तिब्बत के जीवन और संस्कृति में भारत की भाषा संस्कृत की व्याप्त भूमिका के बारे में बहुत चर्चा नहीं हुई है या उसके बारे में बहुत कुछ नहीं लिखा गया है। तिब्बतियों के धर्मगुरू दलाई लामा के नेतृत्व में भारत में तिब्बती शरणार्थियों के आगमन और प्रवास के कई अच्छे परिणाम भी हुए, इनमें से एक है, पारंपरिक भारतीय संस्कृति और ज्ञान के कई महत्वपूर्ण पहलुओं का पुनरुत्थान, जिनके बारे में समझा जाता था कि या तो ये हमेशा के लिए समाप्त हो गए हैं या फिर ह्रास और क्षरण की ओर हैं।

ऐसा ही एक और पहलू प्राचीन भारतीय साहित्य है जिसे भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशी सेनाओं ने भारी क्षति पहुंचाई थी। इनमें सबसे दुर्दांत घटना 1193 ईस्वी में तुर्की मुस्लिम आक्रमणकारी मुहम्मद बख्तियार खिलजी द्वारा नालंदा विश्वभविद्यालय में की गई तोड़फोड़ और उसमें आग लगाने की है। इस अग्निकांड में पुस्तकालयों और वहां रहने वाले विद्वानों के आवासों में संग्रहित असंख्य ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण पांडुलिपियां हमेशा के लिए राख हो गई। ऐसा कहा जाता है कि वहां 3 महीने से अधिक समय तक आग लगी रही।

इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना से पहले तक नालंदा अध्ययन के सबसे बड़े अंतरराष्ट्रीय केंद्रों में से एक था, जहां यूनान, फारस, तिब्बत, चीन और कई दक्षिण पूर्व एशियाई और अन्य दक्षिण एशियाई देशों के विद्वान वर्षों तक आ कर रहे और अध्ययन किया। इन देशों के विद्वानों ने महान भारतीय विद्वानों के मार्गदर्शन में कई विषयों का अध्ययन किया, भारतीय साहित्य का अपनी भाषाओं में अनुवाद किया और इसे अपने साथ ले गए। इस प्रकार से बौद्ध साहित्य कई देशों में पहुंचा और बुद्ध के संदेश को इन देशों में फैलाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। इनमें से कई देशों में आज भी कई अनूदित सामग्री उपलब्ध हैं।

फारसी इतिहासकार मिन्हाज-ए-सिराज ने ऐतिहासिक वृतांत तबाकत-ए-नासिरी में नालंदा को जलाने का वर्णन किया है। इसमें कहा गया है, "खिलजी ने बौद्ध धर्म को पूरी तरह से समाप्त करने के लिए अपना पूरा जोर लगा दिया था। इस घटना में हजारों भिक्षुओं को जिंदा जला दिया गया था और हजारों के सिर कलम कर दिए गए थे। ... पुस्तकालय जलने का सिलसिला कई महीनों तक जारी रहा और उसके बाद जलती हुई पुस्तकालय से धुआं कई महीनों तक उठता रहा ...।"

कुछ बचे हुए विद्वानों ने आगे चलकर विश्वविद्यालय को पुनर्जीवित करने के कुछ प्रयास किए लेकिन यह कभी भी अपनी खोयी हुई महिमा को प्राप्त नहीं कर सका। एक तिब्बती यात्री छग लोटसवा (1197-1264), ने 1235 में इस स्थल का दौरा किया था। यह व्यक्ति इस बात का साक्षी है कि तुर्की

के इस्लामी आक्रमणकारियों ने यहां दोबारा हमले किए थे जिसके कारण नालंदा में बचे रह गए छात्रों को भी वहां से पलायन कर जाने पर मजबूर होना पड़ा। इतिहासकार डी सी अहीर ने अपनी पुस्तक 'बुद्धिज्म डिक्लाइन इन इंडिया: हाउ एंड व्हाई?' में लिखा, "नालंदा और उत्तर भारत में मंदिरों, मठों और अध्ययन केंद्रों के विनाश के कारण गणित, खगोल विज्ञान, रसायन विद्या और शरीर रचना विज्ञान में प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक विचार लुप्त हो गए।"

भारत में श्रृंखलाबद्ध तरीके से एक के बाद एक हुए विदेशी आक्रमणों से अशांति की स्थिति बनी रही और इस सांस्कृतिक थाती को पुनर्जीवित करने का उचित वातावरण तैयार ही नहीं हो सका। इसके परिणामस्वरूप भारत में कई शताब्दियों में समुचित साहित्य का तैयार हुआ विशाल भंडार हमेशा के लिए नष्ट हो गया।

भारतीय साहित्य का संरक्षण केन्द्र बना तिब्बत

सौभाग्य से, भारतीय साहित्य का एक अच्छा खासा हिस्सा तिब्बत में तिब्बती अनुवाद के रूप में बच गया। इतिहास पर नजर डालें तो अब ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बत ने व्यावहारिक रूप से इस खोयी हुई मानवीय विरासत के एक व्यापक हिस्से को संरक्षित करने के लिए एक आदर्श 'संरक्षण स्थल' के रूप में काम किया। 1951 में चीन द्वारा तिब्बत पर कब्जा करने और 1959 में यहां के शासक और धार्मिक गुरु दलाई लामा का पलायन कर के भारत जाने की घटना ने इस अमूल्य भंडार की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।

दुर्भाग्य से, चीनी कब्जे वाले तिब्बत में आगे के घटनाक्रम, विशेष रूप से "द ग्रेट लीप फॉरवर्ड" (1958 से 1962) के दुर्भाग्यपूर्ण वर्षों के दौरान और "सांस्कृतिक क्रांति" (1966 से 1976) जो 1958 से 1976 तक क्रमिक रूप से 18 वर्षों से अधिक समय तक चली, के दौरान पूरे तिब्बत में प्रचंड सांस्कृतिक विनाश हुआ। यह काफी हद तक एक और बख्तियार खिलजी के घटनाक्रम को दोहराने जैसा था, लेकिन इस बार यह काम चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने किया था। अधिकांश मठों को चीन की पीपल्सी लिबरेशन आर्मी (पीएलए) और कम्युनिस्ट पार्टी के कैडरों ने या तो नष्ट कर दिए या उन पर कब्जा कर लिया। पुस्तकालयों से कीमती किताबों को निकालकर भोजन पकाने और हाड़ कंपा देने वाली सर्दी में पीएलए के सैनिकों, कम्युनिस्ट पार्टी के कैडरों और उनके जानवरों के लिए कमरे को गर्म रखने हेतु दैनिक ईंधन के रूप में उपयोग किया जाता था। यदि 1987 में अमेरिकी सीनेट और कांग्रेस के सामने पेश किए गए आंकड़ों पर भरोसा करें तो चीनी उत्पीड़न में 12 लाख से अधिक लोगों की जानें गईं और (कुल 6,259 में से) 6,254 बौद्ध मठों और मंदिरों को नष्ट किया गया।

परम पावन दलाई लामा की दूरदर्शिता और विचारपूर्ण नेतृत्व के कारण इस साहित्य का अधिकांश भाग, भिक्षुओं और विद्वानों द्वारा बचाकर लाया गया जिसे पलायन के लिए मजबूर होने के प्रारंभिक आघात से उबरने के तुरंत बाद उस समुदाय ने स्वयं को एकत्र और पुनर्गठित किया। सौभाग्य से, यह अभियान पिछले 60 वर्षों में इस हद तक सफल रहा है कि भारत आज दुनिया में तिब्बती संस्कृति के सबसे बड़े भंडार के रूप में प्रतिष्ठित है। लुप्तप्राय तिब्बत के पुनरुत्थान के इस संघर्ष का एक प्रमुख उपहार कई ऐसे अनमोल प्राचीन ग्रंथों को पुनर्जीवित करना है जिन्हें भारत में हमेशा के लिए समाप्त हो चुका माना जा रहा था। भारतीय ग्रंथों को पुनर्जीवित करने का काम इसलिए संभव हो सका है कि संस्कृत और तिब्बत की भोटी भाषा के बीच का जुड़ाव मां बेटी के संबंध की तरह है।

इसका मुख्य श्रेय श्रोंगसेन गोम्पो (604-650 ईस्वी) और ट्रिसॉन्ग डेट्सन (742-797 ईस्वी) जैसे तिब्बती राजाओं की बुद्धिमत्ता को जाता है जिन्होंने भारत को तिब्बत के शिक्षकों और बौद्ध ग्रंथों के मूल स्रोत के रूप में चुनने का दोहरा निर्णय लिया और बौद्धों तथा अन्य भारतीय साहित्य की संपूर्ण श्रेणी के अनुवाद के लिए तिब्बती लिपि और तिब्बती (भोटी) भाषा को विकसित करने के लिए संस्कृत

को मूल भाषा के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने यह निर्णय इस तथ्य के जानने समझने के बावजूद लिया कि उनका एक अन्य पड़ोसी देश चीन भी बौद्ध ज्ञान के लिए एक वैकल्पिक स्रोत हो सकता है। साथ ही, भौगोलिक रूप से तिब्बत के लिए भारत की तुलना में चीन तक पहुंचना आसान था और उसके लिए चीन की जलवायु भारत की तुलना में अधिक अनुकूल थी।

बौद्ध धर्म भारत से तिब्बत पहुंचने से बहुत पहले ही चीन में आ चुका था और काफी संख्या में चीनी विद्वान और चीनी भाषा में अनूदित ग्रंथ पहले से ही उपलब्ध थे लेकिन बर्फ से लदे हिमालयी पहाड़ों से दुर्गम यात्रा और भारत में तिब्बती विद्वानों के हिसाब से अत्यधिक गर्म तथा प्रतिकूल मौसम की स्थिति होने के बावजूद इन राजाओं ने अपने विद्वानों को नालंदा जैसे भारतीय विश्वविद्यालयों में भेजने का निर्णय लिया और आचार्य शांतरक्षित और गुरु पद्मसंभव जैसे चोटी के भारतीय विद्वानों को तिब्बत में आमंत्रित किया। उन्होंने यह सब सिर्फ इसलिए किया क्योंकि वे बौद्ध धर्म के दोयम दर्जे के संस्करण को अपनाना नहीं चाहते थे।

इन राजाओं और तिब्बती विद्वानों ने तिब्बती भाषा को संस्कृत लिपि और व्याकरण की तर्ज पर विकसित करने के लिए ज्ञान के स्तर पर अतिरिक्त परिश्रम किया जिससे कि भारतीय साहित्य को विषय वस्तु और शब्दावली तथा वाक्य विन्यास दोनों के स्तर पर सबसे प्रामाणिक रूप में अनुवाद किया जा सके। इस पूरी कवायद के पीछे का मुख्य कारण यह था कि उस समय के तिब्बती नेतृत्वं चाहते थे कि सभी अनुवाद कार्य तिब्बत में ही संपन्न हों। वे नहीं चाहते थे कि भारतीय विश्वविद्यालयों में बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को ग्रहण करने के लिए जाने से पहले तिब्बती विद्वान भारत की जोखिमभरी यात्रा करें या फिर संस्कृत सीखने में अपनी युवावस्था के बहुमूल्य वर्षों का निवेश करें।

इस अनुवाद कार्य को करने का तरीका काफी तार्किक और वैज्ञानिक था। उदाहरण के लिए, किसी भी तिब्बती विद्वान को तब तक किसी संस्कृत पाठ का तिब्बती भाषा में अनुवाद करने की अनुमति नहीं थी, जब तक कि उनके दल के सदस्य के रूप में संस्कृत का कोई भारतीय पंडित (विद्वान) उसे इसमें सहयोग न कर रहा हो। प्रत्येक अनुवाद परियोजना के पूरा होने के बाद, उसे तिब्बत में अध्ययन के लिए स्वीकार किए जाने से पहले विषय के विद्वानों की विशेष रूप से चुनी हुई एक परिषद अनुवाद की प्रामाणिकता को प्रमाणित करती थी। संस्कृत से तिब्बती में अनुवाद के लिए विकसित इन वैज्ञानिक नियमों से प्रामाणिक भारतीय साहित्य के इतने बड़े कोष का विकास हुआ, जो आज दुनिया की किसी भी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं है। ये विषय बौद्ध धर्म से बहुत आगे तक जाते हैं और इनमें आयुर्वेद चिकित्सा, खगोल विज्ञान, गणित, कीमिया, शरीर रचना विज्ञान आदि जैसे कई विज्ञान शामिल हैं जो उस युग में भारत में प्रचलित थे। कई शताब्दियों बाद इस नीति के कुछ दिलचस्प परिणाम सामने आए हैं।

यह मानव इतिहास की सबसे दुर्लभ घटनाओं में से एक थी जब चीन की पीएलए और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने संयुक्त अभियान चलाकर तिब्बत में रक्तपात शुरू किया तो अपना घर और देश छोड़कर निकलने वाले तिब्बती शरणार्थियों में से बहुत से लोगों के सामान में मुख्य रूप से कीमती पुस्तकें शामिल थीं। विशेष रूप से तिब्बती लोगों की भागती हुई भीड़ में बड़ी संख्या में शामिल भिक्षुओं और विद्वानों ने अपने साथ यथासंभव पवित्र पांडुलिपियां लेकर बर्फीले और पहाड़ों के दुर्गम रास्ते से चलकर भारत की लंबी और कष्टपप्रद यात्रा की थी।

किताबों के प्रति तिब्बती समाज के प्रेम और विद्वता की, गहरी जड़ों वाली उनकी परंपरा तथा पवित्र पुस्तकों को व्यवस्थित रूप से संरक्षित किए जाने का ही परिणाम है कि भारत में तिब्बती शरणार्थी समुदाय आज उनके ऐसी संस्थाओं की विशाल श्रृंखला खड़ी कर पाए हैं जो शिक्षा, विद्वतापूर्ण अध्ययनों, अनुसंधान और प्रकाशन के कार्य जुटी हैं। कई लोगों को यह जानकर हैरानी हो सकती है कि

महज डेढ़ लाख के आसपास की आबादी वाले एक मामूली शरणार्थी समुदाय ने भारत में उच्च शिक्षा के लगभग ऐसे सभी मठों और केंद्रों को सफलतापूर्वक पुनर्जीवित किया है, जो सदियों तक तिब्बत में समृद्ध रहे थे और 1951 में तिब्बत पर कब्जा करने के बाद चीन ने इन्हें नष्ट कर दिया था।

इनमें से अधिकांश नागार्जुन, शान्तरक्षित, कमलशीला, आतिश, आर्यदेव, दीपांकर, भर्तृहरि, अश्वघोष, बोधिभद्र, धर्मकीर्ति आदि जैसे महान भारतीय विद्वानों की ऐतिहासिक कृतियां हैं। इस सूची में आचार्य नागार्जुन की लगभग 30 बड़ी और छोटी कृतियां शामिल हैं जैसे कि धर्मसंग्रह, रत्नावली, बोधिचित्त-वीतराण, बोधिचित्तोदपादविधि, प्रतित्यसमुत्पानहृदय आदि। आचार्य नागार्जुन को अपने शिष्य आर्यदेव की सहायता से महायान बौद्ध धर्म के माध्यमिक विद्यालय की स्थापना का श्रेय दिया जाता है। हालांकि, इन विद्वानों की ऐसी कई कृतियों का संदर्भ अन्य उपलब्ध साहित्य में मौजूद थे, लेकिन इनमें से कई लेखन का पता नहीं चल सका और उन्हें हमेशा के लिए लुप्त मान लिया गया था। इसके बाद 1959 से शरणार्थी के रूप में तिब्बती विद्वानों ने भारत में आकर बसने के बाद इस दुष्कर कार्य को मूर्त रूप दिया।

परम पावन दलाई लामा के निर्देशन में, सारनाथ में तत्कालीन सीआईएचटीएस ने एक परियोजना शुरू की थी। इस परियोजना का नेतृत्व महान तिब्बती विद्वान और प्रथम निदेशक प्रो. सामदोंग रिम्पोचे ने किया था। यह परियोजना ऐसी सभी तिब्बती पांडुलिपियों की पहचान करने और उनका फिर से अनुवाद करने पर केंद्रित थी, जिनके बारे में समझा जाता था कि वे स्थायी रूप से संस्कृत में लुप्त हो गई हैं, लेकिन तिब्बती में उपलब्ध हैं।

1970 के दशक के उत्तरार्ध में शुरू हुई इस परियोजना पर अभी भी एक दूसरे प्रसिद्ध तिब्बती विद्वान और सीयूटीएस के कुलपति प्रो. गेशे नवांग सैमटेन के नेतृत्व में काम जारी है। प्रो. गेशे शुरू से ही परियोजना के साथ जुड़े रहे हैं। इस पुनर्स्थापना परियोजना से नजदीक से जुड़े भारतीय विद्वानों में प्रोफेसर जगन्नााथ उपाध्याय, प्रोफेसर व्रजवल्लभ द्विवेदी, पं. जनार्दन शास्त्री पांडेय, प्रो. श्रीकांत शंकर बाहुलकर जैसे वरिष्ठफ शामिल थे। इस कड़ी में शामिल कुछ अन्य नामों में डॉ. ठाकुर सैन नेगी, डॉ. बनारसी लाल, श्री थिनले राम शास्त्री, डॉ. त्सेहरिंग डोकर, डॉ. रंजन कुमार शर्मा, डॉ. विजया राज वज्राचार्य जैसे अन्यस विद्वान शामिल थे। कई बहुमूल्य भारतीय ग्रंथों को पुनर्जीवित करने के अलावा, भारत और तिब्बत के बीच संस्कृत के जुड़ाव ने भारतीय और तिब्बती विद्वानों के बीच ज्ञान के आदान-प्रदान के लिए एक सहज वातावरण को जन्म दिया है।

चीन-पाकिस्तान गंठजोड़ का भारत पर प्रभाव

✍ डॉ. शिव पूजन प्रसाद पाठक

लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के आर्यभट महाविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं
तथा अंतरराष्ट्रीय राजनय के विशेषज्ञ हैं।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सभी संप्रभु देश अन्य देशों के साथ अपने संबंध स्थापित करने के लिए स्वतंत्र हैं। सम्बन्धों की स्थापना राष्ट्रीय हितों के आधार पर होती हैं। चीन और पाकिस्तान के संबंधो का आधार भी दोनों देशों का राष्ट्रीय हित है। चीन और पाकिस्तान के गठजोड़ सबसे अधिक भारत के राष्ट्रीय हित को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। भारत के विदेश नीति को सबसे अधिक चुनौती इन्ही दो देशों से मिल रही है। भारत के सुरक्षा का सबसे अधिक खतरा इस गठजोड़ से है। ऐसे में चीन और पाकिस्तान के सम्बन्धों को समझना भारत के लिए अति आवश्यक है, क्योंकि वर्तमान में पाकिस्तान की सुरक्षा, स्थिरता और संपन्नता चीन के हाथों में चली गयी है।

इस लेख में चीन और पाकिस्तान के आपसी समझ क्या है, उनके राष्ट्रीय हित क्या हैं और दोनों देश कौन से नीति और रणनीति अपने हितों का प्राप्त करने के लिए अपनाते हैं, की चर्चा की गई है। साथ में यह भी बताने का प्रयास किया गाय है कि यह संबंध भारत के संदर्भ में विशेष क्यों है। अन्त में भारत की चिंताओं और विकल्पों को समझने की कोशिश की गयी है।

पृष्ठभूमि

पाकिस्तान और चीन के संबंधों का इतिहास मित्रता और सहयोग का है। पाकिस्तान के निर्माण के बाद से ही दोनों देश कभी प्रतिद्वंद्वी नहीं रहे हैं। भारत के विभाजन के बाद पाकिस्तान का अस्तित्व आता है और उसके दो वर्ष साम्यवादी क्रांति के माध्यम से चीन अपने नए अवतार में आता है। अर्थात् वैश्विक राजनीति में दोनों राजनीतिक सत्ताओं की उत्पत्ति लगभग एक साथ होती है। पाकिस्तान पहला मुस्लिम राज्य है जिसने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता दी। यद्यपि दोनों देशों ने 21 मई 1950 को कूटनीतिक संबंध स्थापित किया।[1] अपने उदय के शुरुआती वर्षों तक दोनों देशों में कोई आपसी घनिष्ठता नहीं थी। बाडुंग सम्मलेन के बाद दोनों देशों में निकटता आनी शुरू हो गयी। भारत के साथ 1962 के युद्ध के बाद चीन और पाकिस्तान के रिश्ते में एक युगांतकारी बदलाव आता है। 1963 में चीन और पाकिस्तान ने मित्रता की संधि कर के सम्बन्धों को संस्थागत ढांचा प्रदान कर दिया। इसी संधि के माध्यम से पाकिस्तान ने गिलगित-बाल्टिस्तान क्षेत्र से 5100 वर्ग किमी की सक्सगाम घाटी चीन को दे दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन ने पाकिस्तान को 1965 और 1971 के युद्ध में खुला समर्थन दिया।

चीन और पाकिस्तान के संबंधों में एक चढ़ाव तब आता है जब चीन और सोवियत संघ के बीच शीतयुद्ध शुरू हो जाता है। चीन और अमेरिका के मध्य मित्रता का धुरी पाकिस्तान बनता है और

इस्लामाबाद-बीजिंग-वाशिंगटन धुरी बनता है। शीत युद्ध के समय इस धुरी ने भारत को अंतर्राष्ट्रीय जगत में सबसे अधिक हानि पहुंचाई है। एक प्रकार से यह इस्लाम-साम्यवाद-ईसाइयत का गठजोड़ था जो भारत के विरोध में था। शीत युद्ध की समाप्ति के बाद यह गठजोड़ टूट गया लेकिन इस्लाम और साम्यवाद का साथ भारत के विरोध में बना रहा है। भारत के सुरक्षा की सबसे बड़ी चुनौती ये दो सोच कर रहीं हैं। स्पष्ट शब्दों में कहें तो भारत के आंतरिक सुरक्षा की चुनौती नक्सल और इस्लामिक आतंकवाद से और बाह्य सुरक्षा की चुनौती चीन और पाकिस्तान से आ रही है।

चीन का आत्म-प्रतिबिंब

सोवियत संघ के विघटन के बाद चीन ही सबसे बड़ा साम्यवादी देश है जहां तानाशाही, राष्ट्रवादी दोनों हैं और वह अपने को सफल साम्यवादी देश मानता है। वर्तमान चीन विश्व को दो दृष्टियों से समझता है। पहला, वह अपने को साम्राज्यवाद से पीड़ित मानता है। दूसरा, राष्ट्रवाद अतिप्रबल रूप से दिखता है। चीन इस समय विश्व में कई दृष्टि से दूसरे नंबर के शक्ति है। यद्यपि यह स्थिति सोवियत संघ के विघटन के कारण बनी है। एक उभरती हुई शक्ति होने के कारण चीन अपना विस्तार चाह रहा है। उसके सामने दो बड़ी चुनौतियाँ है। पहला, वह वैचारिक दृष्टि से एक साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था है। यह राजनीतिक व्यवस्था क्रांति के माध्यम से स्थापित हुई और इसका चरित्र राष्ट्रवादी है। कालान्तर में चीन ने पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को अपना लिया है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था में विरोधाभासी संबंध है और एक दूसरे के विपरीत है।

दूसरा, चीन को तीव्र गति से बढ़ रही अर्थव्यवस्था तथा अपने उत्पादों के लिए नये बाज़ार और और प्राकृतिक संसाधनों की आवश्यकता है। इसके लिए उसे अपना विस्तार करना आवश्यक है। उसे नए स्थल और जल मार्ग चाहिए ताकि उसके वस्तुओं का आसानी से आवागमन सुनिश्चित हो सकें। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वह एक ऐसी अंतराष्ट्रीय व्यवस्था चाहता है जिसमें एशिया एकध्रुवीय हो और विश्व बहुध्रुवीय (Uni-polar Asia and Multi-polar world) हो। एशिया में उसे जो भी चुनौती मिलनी है वह भारत से मिल रही है।

चीन के दृष्टि में पाकिस्तान

चीन पाकिस्तान को एक अच्छा पड़ोसी, निकट का मित्र, और विश्वासपात्र सहयोगी मानता है। विशेषकर सुरक्षा के दृष्टि से चीन पाकिस्तान को अपना इजरायल समझता है। इसके दो अर्थ हैं। प्रथम, पाकिस्तान चीन का कनिष्ठ सहयोगी है और दूसरा, चीन के लिए पाकिस्तान पश्चिमी एशिया में कदम रखने का स्थान है। इस प्रकार, भारतीय रणनीतिक चिंतन के पितामह के. सुबरमनियम का मानना है कि पाकिस्तान चीन के लिए दूसरा उत्तरी कोरिया है अर्थात् जिस प्रकार उत्तर कोरिया ने चीन के लिए पूर्वी एशिया में भूमिका निभायी है, उसी प्रकार पाकिस्तान चीन के लिए पश्चिमी एशिया में भूमिका निभा सकता है।

चीन का राष्ट्रीय हित

पाकिस्तान के संदर्भ में चीन का राष्ट्रीय हित व्यापक है। पाकिस्तान चीन का रणनीतिक सहयोगी है। पाकिस्तान के माध्यम से वह मध्य एशिया में पहुंचता है। पाकिस्तान अपने को हमेशा इस्लामिक देश के रूप में प्रस्तुत करता है। चीन इस पहचान का लाभ लेते हुए इस्लामिक देशों से अपने संबंधों को सुदृढ़ करने का प्रयास करता है। पाकिस्तान चीन के लिए हथियारों का सबसे बड़ा बाज़ार है। चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा चीन को भू-राजनीति की दृष्टि से बढ़त दे रहा है। इस पूरी परियोजना में ग्वादार पत्तन सबसे महत्वपूर्ण है। यह पत्तन पश्चिम एशिया को दक्षिण एशिया और मध्य एशिया से जोड़ता है। अरब सागर के माध्यम से चीन हिन्द महासागर क्षेत्र में प्रवेश मिल गया है। चीन की नौसैनिक शक्ति में विस्तार हो रहा है। चीन जब गिलगित-बाल्टिस्तान में आ रहा

है तो उसकी आंखे लद्दाख पर ही हैं। सियाचिन ग्लेशियर के पास डोकलम जैसा टेरमाशर भारत, पाकिस्तान और चीन के बीच का त्रिकोण है।

चीन की नीति और रणनीति

चीन भारत से निकट भविष्य में कोई प्रत्यक्ष युद्ध नहीं चाहता है, लेकिन उभरते भारत को वह परिसीमित अवश्य करना चाहता है। एशिया में भारत ही ऐसा देश है जो चीन का प्रतिस्पर्धी हो सकता है। इसलिए वह स्वयं सीमा पर अशांति उत्पन्न करता रहेगा। डोकलम और लद्दाख के क्षेत्र में विवाद इसका ताजा उदाहरण है। चीन पाकिस्तान को प्रोत्साहित करेगा कि वह भारत को उलझाए रखे। चीन का पाकिस्तान में बड़ा निवेश है। वह उसे सुरक्षित चाहता है। इसके लिए वह पाकिस्तान को प्रत्येक स्तर पर सहायता पहुंचाएगा।

पाकिस्तान : आत्म-प्रतिबिंब

पाकिस्तान अस्तित्व के आने के समय से ही वह स्वयं को इस्लामिक देश मनाने लगा। वह इस्लाम का वैश्विक मंचों पर प्रतिनिधित्व करने लगा। वह अपने इतिहास की शुरुआत अरबों के सिंध पर आक्रमण यानी 711 ई. से मानते है और मुगलों का उत्तराधिकारी मानते हैं। भारत के विभाजन से उपजा हुआ देश होने के कारण भारत का इतिहास ही पाकिस्तान का इतिहास है। वह भी एक सनातन भारतीय सभ्यता पर आधारित देश है लेकिन उसकी सबसे बड़ी भूल यही है कि वह अपने को इस्लाम के सीमित इतिहास से जोड़ने लगा है। मतांधता में वह अरब को पीछे छोड़ना चाहता है।

यद्यपि युद्ध का फैसला सैन्य क्षमता और कुशल रणनीति पर निर्भर करता है, फिर भी पाकिस्तान की सोच समझना आवश्यक है। पाकिस्तान के प्रक्षेपास्त्रों का नाम गजनी, गौरी, अब्दाली और बाबर है। वह मोहमद बिन कासिम को अपना हीरो मानते हैं। यह कौन लोग हैं? ये वे लोग हैं जिन्होंने भारत पर आक्रमण किया, भारत को लूटा और यहाँ के नागरिकों पर अत्याचार किया। उस समय तो पाकिस्तान भी भारत ही था। अरबों ने सिंध पर आक्रमण किया था, पाकिस्तान पर नहीं। सिंध भारत था। सारांश यह कि पाकिस्तान अपनी ही सभ्यता के आधार को नकारने लगा। वह अपनी जड़ सिंधु घाटी में नहीं देखता है।

इसलिए पाकिस्तान पहचान के संकट से गुजर रहा है। पहले वह इस्लाम के नाम पर अरब देशों के निकट गया। सऊदी अरब से घनिष्ठता रही है। वर्तमान भारत का संबंध अरब देशों से घनिष्ठ है। भारत सरकार ने इन देशों की कई यात्राएं की है। जम्मू और कश्मीर में अनुच्छेद 370 के हटाने के बाद पाकिस्तान को वहाँ पर कोई समर्थन नहीं मिला। पाकिस्तान इस समय तुर्की के निकट जाना चाह रहा है। अब स्वयं को तुर्क और ऑटोमन साम्राज्य से जोड़ता है । इस्लामिक पहचान की स्थापना और इस्लाम का वैश्विक नेतृत्व पाकिस्तान विदेश नीति का आधार बना। राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से सेना सबसे शक्तिशाली संस्था बन गयी। सेना के प्रभुत्व के कारण, जनतंत्र का आधार नहीं बन पाया और सामाजिक व्यवस्था सामंती ही बनी रही। समाज में मध्यवर्ग का निर्माण नहीं हो पाया।

पाकिस्तान की चीन के प्रति दृष्टि

पाकिस्तान का चीन प्रति दृष्टिकोण उसके भूराजनीतिक, भू-आर्थिक, घरेलू राजनीति और क्षेत्रीय समीकरण से निर्धारित होता है। विश्व राजनीति में बहुत कम ऐसे देश होते हैं, जो पड़ोसी देश में अपनी अच्छी छवि रखते हैं। पाकिस्तान में चीन की स्थिति सम्माजनक है। पाकिस्तान के राजनीतिक दल, सरकार, सेना व जनमानस में चीन के प्रति सकारात्मक सोच है। इस समर्थन के कारण चीन कभी भी पाकिस्तान के प्रति कभी शोषणात्मक रुख नहीं रखता। पाकिस्तान यह भी मानता है कि चीन दक्षिणी एशिया में एक स्थायित्व प्रदान करने वाला है। क्षेत्र में शांति बनाए रखने के लिए चीन की भूमिका आवश्यक है। पाकिस्तान चीन को एशिया में आशा की किरण के रूप में देखता है। वह चीन के उदय

को एक अवसर के रूप में देखता है। यह सोच चीन के अन्य पड़ोसी देशों के सोच के विपरीत है। चीन के अधिकतर पड़ोसी देश चीन के प्रति नकारात्मक रुख रखते हैं। चीन का प्रभाव इस बात से पता चलता है कि चीनी मेंडेरीन भाषा पाकिस्तान की तीसरी आधिकारिक भाषा घोषित की जा चुकी है।

पाकिस्तान के राष्ट्रीय हित

पाकिस्तान के चीन के साथ सम्बन्धों के पीछे उसके दो सीधे-सीधे राष्ट्रीय हित जुड़े हुए हैं। प्रथम, पाकिस्तान भारत को ही अपना शत्रु मानता है। इसलिए वह चाहता है कि चीन भारत पर दबाव बनाकर इस क्षेत्र में शक्ति संतुलित करता रहे। दूसरा, पाकिस्तान का हित है कि वह अधिक से अधिक आर्थिक व सैन्य सहायता चीन से प्राप्त करता रहे। पाकिस्तान भारत के साथ साम्यता चाहता है। किसी भी प्रकार से वह भारत से निम्नतर नहीं होना चाहता है। साम्यता की यह इच्छा पाकिस्तान को चीन पर निर्भर रहने के लिए विवश करती है। पाकिस्तान इस कारण भी चीन के साथ जुड़ा रहना चाहता है क्योंकि चीन कभी पाकिस्तान के मानवाधिकार या प्रजातांत्रिक मूल्यों के विषय में कुछ नहीं कहता है। वर्तमान में पाकिस्तान की सैन्य सुरक्षा चीन पर निर्भर है। पाकिस्तान में आर्थिक रूप से चीन ही सबसे बड़ा निवेशक है। चीन के प्रति सम्बन्धों के लेकर पाकिस्तान में आम सहमति है। चीन पाकिस्तान के विदेश नीति का आधार बन चुका है। पाकिस्तान चीन को तिब्बत, ताईवान और जिनजियांग पर समर्थन करता है।

गठजोड़ की जड़

चीन का पाकिस्तान में इस प्रकार के विश्वास पूर्ण निवेश को चीन और पाकिस्तान के व्यापक सम्बन्धों के आधार पर समझना होगा।

1. ऐतिहासिक कारण

सर्वप्रथम, चीन और पाकिस्तान के सम्बन्धों का आधार वैचारिक है। शीतयुद्ध के समय में भारत को उभरती हुई शक्ति के रूप में सबसे अधिक प्रतिरोध वैचारिक आधार पर मिला। भारत के प्रतिरोध में इस्लाम, इसाईयत और साम्यवाद के एक सावयवी गठजोड़ (organic link) निर्मित हुआ जिसे पाकिस्तान, अमेरिका-ब्रिटेन व चीन ने प्रतिनिधित्व प्रदान किया। भारत के इतिहास को एक सांप्रदायिक ढंग से प्रस्तुत किया गया। प्राचीन भारत को हिन्दू इंडिया, मध्यकाल को मुस्लिम इंडिया और ब्रिटिश के शासन काल को ईसाई भारत कहा गया। स्वतंत्र भारत को प्राचीन भारत के रूप में चिन्हित किया गया और पाकिस्तान मुस्लिम इंडिया का उत्तराधिकारी बना और ईसाईयत का प्रतिनिधित्व आंग्ल-अमेरिकी समूह करने लगा। सोवियत संघ और चीन के बीच शीतयुद्ध शुरू होने के बाद चीन इस समूह का महत्वपूर्ण अंग हो गया। शीतयुद्ध के समाप्ति के बाद यह सावयवी गठजोड़ तो समाप्त हो गया लेकिन इस्लाम और साम्यवादी गठबंधन और सशक्त हो गया और चीन-पाकिस्तान के संबंध प्रगाढ़ हो गए। वैश्विक स्तर यह गठजोड़ अपने मूल भावना के आधार पर भारत विरोधी कार्य करता रहता है।

2. मनोवैज्ञानिक कारण

चीन और पाकिस्तान के सम्बन्धों का आधार मनोवैज्ञानिक भी है। संसार के सभी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सदैव दो प्रकार की उद्देश्य के लिए संघर्षरत रहते हैं। पहला संघर्ष अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु होता है अर्थात उत्तरजीविता के लिए संघर्ष करता है। दूसरा संघर्ष अपने अस्तित्व के विस्तार के लिए होते है जिसे वर्चस्व के स्थापना की लड़ाई कहते है। वर्तमान में पाकिस्तान अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है और इस संकट में चीन ही सार्थक और सक्षम सहयोगी है। चीन को अपने वर्चस्व की स्थापना विश्व व्यवस्था में करनी है। वह वर्चस्व की लड़ाई लड़ रहा है। यह मनोवैज्ञानिक आधार दोनों के सम्बन्धों को दृढ़ बनाता है।

3. वैश्विक और क्षेत्रीय शक्ति संरचना

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति संरचना के दृष्टि से शक्ति का वितरण चीन और पाकिस्तान के पक्ष में है। दोनों देशों के मध्य शक्तियों का असमान वितरण होने के कारण कोई आपसी शक्ति की प्रतिस्पर्धा नहीं है। चीन को वैश्विक स्तर पर सहयोगी की आवश्यकता है और पाकिस्तान को दक्षिण एशिया में सहयोगी की आवश्यकता है। चीन दक्षिण एशिया का देश नहीं है, लेकिन वह इस क्षेत्र में अपनी उपस्थिति बनाया रखना चाहता है।

4. नीतिगत कारण

दोनों देश कभी भी अपनी राजनीति में नैतिकता का मिश्रण नहीं करते हैं। चीन कभी पाकिस्तान के आंतरिक विषयों को सहयोग का आधार नहीं बनाता है। चीन के लिए पाकिस्तान में मानवाधिकार या आतंकवाद विदेश नीति का विषया नहीं है। उसी प्रकार पाकिस्तान भी कभी चीन अनैतिक प्रश्नो पर नहीं बोलता है। सबसे अच्छा उदाहरण है ऊईगर मुस्लिमों की प्रतिताड़ना। पाकिस्तान इस्लाम का अगुवा देश है लेकिन ऊईगर के विषय पर चुप रहता है। जून 2020 में, ताईवान राष्ट्रीय सुरक्षा कानून का समर्थन करने वाला वह प्रमुख देश था।

5. चीन उगता हुआ सूर्य है

चीन की सीमाएं पकिस्तान से मिलती है और भारत की सीमाएं अफगानिस्तान से मिलती है लेकिन पाक अधिक्रांत लद्दाख से भू-राजनीति कुछ और हो गयी। यदि पाकिस्तान के पास अधिक्रांत लद्दाख नहीं होता तो चीन और पाकिस्तान के सम्बन्धों में इतनी प्रगाढ़ कभी नहीं कि वें भारत के विरोध में सतत लग रहे। यदि भारत की सीमा अफगानिस्तान से बनी रहती तो दक्षिणी एशिया और मध्य एशिया की राजनीति अलग होती।

आपसी सहयोग किन बिन्दुओं पर

1. आर्थिक निवेश व अवसंरचनात्मक विकास

वर्तमान में चीन पाकिस्तान का सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार है। 2012 में ही चीन ने अमेरिका की जगह ले ली थी। पाकिस्तान चीनी वस्तुओं के लिए एक बड़ा बाज़ार है। जनवरी 2020 में चीन और पाकिस्तान के बीच मुक्त व्यापार समझौता हो गया है। चीन का पाकिस्तान के साथ आर्थिक संबंध चीन के निवेश पर आधारित है। चीन का यह निवेश मूलत: पाकिस्तान के अवसंरचना में है। चीन पाकिस्तान से काराकोरम के माध्यम से जुड़ गया है। इस मार्ग का निर्माण 1978 ई. में हुआ था, 1280 किमी. लम्बे मार्ग का लगभग 580 किमी. काराकोरम मार्ग गिलगिट-बाल्टिस्तान से होकर जाता है। इसके अतिरिक्त जगलोट-स्कर्दु मार्ग को और चौड़ा किया जा रहा है। काराकोरम की सफलता ने ही चीन पाकिस्तान आर्थिक गलियारे ही प्रोत्साहित किया है। इस राज्यमार्ग से प्राकृतिक बाधाएं दूर हुईं और व्यापार के लिए सुगम साबित हुआ ।

2. चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा (CPEC)

यह चीन की एक महत्वाकांक्षी परियोजना है। इसकी वर्तमान लागत लगभग 52 करोड़ बिलियन डॉलर हो चुकी है जो 46 करोड़ बिलियन डॉलर से शुरू हुई थी। यह परियोजना वैश्विक विस्तार का हिस्सा है। चीन इसी प्रकार पाँच अन्य महत्वाकांक्षी परियोजना चीन-मंगोलिया-रूस आर्थिक गलियारा, बांग्लादेश-चीन-भारत-म्यांमार आर्थिक गलियारा, चीन-इंडोनेशिया आर्थिक गलियारा, न्यू यूरेशिया लैंड ब्रिज आर्थिक गलियारा और चीन-मध्य एशिया और पश्चिमी आर्थिक गलियारा शामिल है।

चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा चीन को अरब की खाड़ी से जोड़ता है जहां पर ग्वादार पत्तन (पोर्ट) का निर्माण हो रहा है। यह आर्थिक गलियारा कई परियोजनाओ का समुच्चय है। इसमें 51 परियोजना को 3 मार्गों पर 15 वर्ष में तैयार होना है। पाकिस्तान के चारों प्रांतो से होकर यह जा रहा

है। चीनी दूतावास की सूचना के अनुसार बलूचिस्तान में 16, खैबर-पख्तूनवाला में 8, सिंध में 13 और पंजाब में 12 परियोजना का निर्माण कार्य होना है। इसमें सड़क, रेल, औद्योगिक क्षेत्र, ऊर्जा केंद्र व साइबर लाइन का निर्माण शामिल है। इसमें सबसे बड़ा निवेश ऊर्जा क्षेत्र में है। कुल खर्च का 72 प्रतिशत ऊर्जा निर्माण में खर्च किया जाएगा, 24 प्रतिशत परिवहन और शेष विशेष आर्थिक क्षेत्र में लगाया जाएगा। 29 औद्योगिक पार्क और 21 विशेष आर्थिक क्षेत्र का प्रस्ताव है। इस निवेश में ऊर्जा क्षेत्र की लगभग 24 परियोजनाएं हैं जिसके माध्यम से 17045 मेगावाट विद्युत उत्पादन की योजना है। इस उत्पादन में कोयला, गैस, पनबिजुली, सौर ऊर्जा व पवन ऊर्जा भी शामिल है। चार नए परमाणु प्लांट 2023 तक निर्मित करने का प्रस्ताव है। इसके अतिरिक्त अन्य परियोजनाएं पहले से ही चल रहीं थी। नीलम-झेलम जलशक्ति परियोजना सबसे महत्वपूर्ण है। इससे 969 मेगावाट विद्युत का उत्पाद करना है। कोहला जलविद्युत परियोजना से 1100 मेगावाट विद्युत का उत्पादन करना है। चाकोठी-हटिया केन्द्र से 500 मेगावाट विद्युत की योजना है। गोमल, जाम और मंगला बांध की ऊंचाई बढाने में चीन की प्रमुख भूमिका है। अभी दीयमर भाषा बांध एक महत्वाकांक्षी परियोजना शुरू की गयी है।

3. सैन्य सहयोग

चीन के अनुसार पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों के आधार में सैन्य सहयोग 'रीढ़ की हड्डी' है। पाकिस्तान अपना 70 प्रतिशत सैन्य हथियार और उपकरण चीन से आयात करता है। चीन पाकिस्तान के सुरक्षा प्रणाली, प्रक्षेपास्त्र पद्धति और परमाणु हथियारों के लिए पाकिस्तान का सहयोग करता है। चीन 70 प्रतिशत सैन्य उपकरण पाकिस्तान के सेना के लिए उपलब्ध करता है। इसी प्रकार पाकिस्तान के प्रक्षेपास्त्र चीनी तकनीक से विकसित हुई है। पाकिस्तान की प्रेक्षपास्त्र हत्फ 1 और हत्फ 3 चीन के एम-19 का और शाहीन-1 एम-11 का प्रतिरूप ही है। एफ-6, एफ-7 लड़ाकू विमान, जे. एफ-17 चीन के ही उत्पाद हैं। चीन न केवल सैन्य हथियारों और गोला व बारूद प्रदान करता है बल्कि सेना के अधिकारियों को प्रशिक्षण भी देता है। सैन्य दृष्टि से चीन का बलूचिस्तान में जल सेना का अड्डा है और गिलगित-बाल्टिस्तान में पीएलए की यूनिट उपस्थित है।

4. परमाणु तकनीकी

चीन ने पाकिस्तान के परमाणु हथियारों, परमाणु प्लांट और रिएक्टर को शुरुआत करवाया। विश्व के चीन पहला देश होगा जो दूसरे देश को परमाणु हथियारों से सम्पन्न बना रहा है। पाकिस्तान के परमाणु रिएक्टर चश्मा-1 और चश्मा-2 पूरा हो गया है और चश्मा के तीसरे और चौथे चरण के लिए भी वादा किया है। पाकिस्तान के तीनों परमाणु रिएक्टर काहूटा, खुसाब और चश्मा चीन के सहयोग से बने हैं। चीन ने यह कार्य एनपीटी पर हस्ताक्षर करने के बाद किया।

5. जम्मू और कश्मीर

चीन ने अपनी विदेश नीति को कश्मीर-विषय के आधार पर निर्धारित किया है। उसके अनुसार जम्मू और कश्मीर भारत और पाकिस्तान के बीच विवादित क्षेत्र है। चीन की कश्मीर नीति के प्रारम्भ में लद्दाख पर नियंत्रण करना हो सकता है क्योंकि 1949 में साम्यवादी सरकार की स्थापना के बाद चीन ने तिब्बत पर अनधिकार कब्जा कर लिया। महाशक्तियों के भागेदारी के दृष्टि से देखें तो चीन अब अकेला देश है जो कश्मीर विषय में प्रत्यक्ष भागीदार है और इसका अंतर्राष्ट्रीयकरण करता है।

अनुच्छेद 370 में संशोधन के बाद का परिदृश्य

5 अगस्त 2019 को भारत ने अनुच्छेद 370 के प्रावधान को हटा दिया तो सबसे अधिक सक्रियता चीन ने दिखायी। भारत ने अपने आतंरिक प्रावधानों और प्रशासनिक विभाजन से चीन की संप्रभुता को चुनौती दी है। उनकी विदेश मंत्रालय के प्रवक्ता ने कहा कि "भारत सरकार ने आधिकारिक रूप से जम्मू और कश्मीर व लद्दाख को केंद्र प्रशासित के स्थापना की घोषणा की जिसमें चीन का

भूभाग अपने प्रशासनिक अधिकार में लिया।"

चीन ने 370 के विषय को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में अन्य विषय के अंतर्गत (अदर बिज़नस) उठाया। लेकिन अन्य 14 सदस्यों ने इसे नकार दिया और कहा कि कश्मीर के विषय भारत और पाकिस्तान के द्विपक्षयीय विषय और इसको शिमला समझौता के माध्यम से हल किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 370 में बदलाव भारत का आंतरिक विषय है। 20 फरवरी 2020 को चीन ने पाकिस्तान के साथ एक संयुक्त घोषणा पत्र जारी किया जिसमें चीन ने कहा है कि कश्मीर का विषय विवादित है और इसे संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव के अनुसार समाधान करना चाहिए। चीन किसी भी प्रकार का एकतरफा कार्यवाही का विरोध करता है जो परिस्थिति को और जटिल कर दे।

चीन की उपस्थिति

चीन की उपस्थिति उसकी आर्थिक संसाधनों की मांग और रणनीतिक विस्तार के संदर्भ में समझना है। उसको सुचार रूप से चीनी अर्थव्यवस्था को उपलब्ध कराने सबसे कारण है। दूसरा, इस भारत को रणनीतिक परिसीमन के दृष्टि से भी देखा जा सकता है। भौगोलिक समीपता चीन का झिंगझाग प्रान्त से जुड़ा हुआ है। यह भूभाग तिब्बत के निकट है। ये दोनों क्षेत्र अशांति हैं। चीन की उपस्थिति दो रूपों में है। पहला चीन लद्धाख के भू भाग पर प्रत्यक्ष अधिपत्य बनाए हुए है और दूसरा, आर्थिक दृष्टि लद्दाख के क्षेत्र में निवेश करना चाहता है।

चीन के प्रत्यक्ष अधिपत्य वाले क्षेत्र

प्रत्क्षय अधिग्रहित क्षेत्र में तीन भूमि प्रमुख है- आक्साइचिन, काराकोरम श्रृखला और मानसर गाँव। चीन भारत का कभी पड़ोसी देश नहीं था, लेकिन तिब्बत पर बलात नियंत्रण के बाद उसकी सीमाएं भारत से मिलने लगी। इस प्रकार भारत के कई भूभाग पर तिब्बत का हिस्सा बताकर अवैध दावा शुरू कर दिया। पश्चिमी क्षेत्र में यह लद्दाख का भूभाग है।

आक्साइचिन

चीन ने पाकअधिकृत लद्दाख के एक बड़े भूभाग पर कब्जा किया हुआ है। चीन ने भारत और चीन के बीच 1962 में हुए युद्ध में भारत से अक्साईचिन का हिस्सा छीन लिया था। यह भूमि डोगरा शासक के अधीन थी। 1914 ई. में महराजा के ब्रिटिश के आधीन हो जाने के कारण अक्साईचिन ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा हो गया था। ब्रिटिश और चीन व तिब्बत के बीच 1914 में मैकमोहन रेखा के आधार पर सीमा रेखा का निर्धारण किया गया। भारत और चीन के बीच 1954 में पंचशील नाम से मित्रता का समझौता हुआ और यह मान लिया गया कि मैकमोहन रेखा ही भारत और चीन के बीच की सीमा रेखा है।

काराकोरम श्रृंखला

काराकोरम पर्वत श्रृंखला की उत्तर में शक्सगाम घाटी और रक्साम घाटी (यरकंद नदी के मुहाने) है। अभी इस पर चीन का कब्जा है और तस्कोर्गन काउंटी के माध्यम से इस पर प्रशासनिक नियंत्रण किया जा रहा है। शक्सगाम घाटी पर बाल्टिस्तान क्षेत्र के सिगर तहसील के माध्यम से राज्य किया जाता था। इसके उत्तर में कुनलुन पर्वत श्रृंखला, दक्षिण में काराकोरम पर्वत श्रृंखला और पूर्वोत्तर में सियाचिन है। ऐतिहासिक रूप से यह हुंजा रियासत का क्षेत्र था जो चारागाह के रूप में प्रयोग किया जाता था। शक्सगाम भूभाग को पाकिस्तान ने चीन को 1963 ई के सीमा समझौता में दे दिया। इस समझौते का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद हल हो जाने के बाद चीन उस देश के साथ फिर से बातचीत करेगा। यदि पाकिस्तान के पास यह भूमि बनी रहती है तो यह समझौता बना रहेगा, अन्यथा चीन भारत के साथ पुन: बातचीत करेगा।

मिनसरगाँव

कैलाश पर्वत से 32 किमी पश्चिम में एक गाँव है जो पश्चिम तिब्बत का हिस्सा है। यह सदियों से जम्मू कश्मीर राज्य का भाग था। इस गाँव के राजस्व से कैलाश मानसरोवर के तीर्थयात्रियों के रहन सहन में व्यय किया जाता है। 1684 में लद्दाख और तिब्बत के बीच टिंगमोसगंग (Tingmosgang) की संधि होती है जिसमे यह गाँव लद्दाख को दे दिया जाता है। इस संधि में तय होता है कि लद्दाख के राजा नागरी-खोरसूम (पश्चिम तिब्बत) मिनसर गाँव को अपने अधिकार में रखेंगे। महाराजा गुलाब सिंह के समय लद्दाख के जम्मू कश्मीर राज्य का हिस्सा बन गया और 26 अक्तूबर 1947 को जब महराजा हरि सिंह ने जम्मू-कश्मीर का भारत में अधिमिलन किया तो यह भारत का क्षेत्र हो गया।

भारत की चिंता

चीन और पाकिस्तान का सैन्य और परमाणु सहयोग भारत के लिए चिंता का विषय है क्योंकि भारत का दोनों देशों से संबंध अच्छा नहीं रहा है। दोनों के साथ युद्ध हो चुका है। इसका साथ भारत ही एक देश है जो दो परमाणु सम्पन्न देशों के साथ सीमाएं मिलती है। पाकिस्तान की परमाणु नीति यह कहती है कि पाकिस्तान अपने परमाणु हथियारों का प्रयोग भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश पर पहले नहीं करेगे।

दो मोर्चों पर युद्ध

भारत के सबसे बड़ी चुनौती है कि चीन और पाकिस्तान से एक साथ युद्ध में कैसे निपटे। चीन और पाकिस्तान का संबंध एक वास्तविक स्थिति है । भारत की सीमा काफी विस्तृत है। एक स्थान की सेना को आज भी दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए समय और अतिरिक्त संसाधन चाहिए। भविष्य में यदि भारत और पाकिस्तान का कोई युद्ध हो तो चीन प्रत्यक्ष अपनी सेना भारत के विरोध में नहीं उतारेगा, लेकिन भारत और चीन का युद्ध हुआ तो पाकिस्तान चीन की ओर से अवश्य लड़ेगा। चीन अपनी सेना को प्रत्यक्ष युद्ध में नहीं शामिल करेगा, इसके पीछे कई कारण है। चीन की सुरक्षा के लिए भारत कोई खतरा नहीं है। चीन अकेले भारत को चुनौती दे सकता है। वह पाकिस्तान के कारण अपनी सेना को युद्ध में नहीं डालेगा लेकिन पाकिस्तान के पक्ष में चीन पूर्ण सैन्य सहयोग करेगा। प्रत्येक दृष्टि से पाकिस्तान की सहायता करेगा। चीन का लक्ष्य वैश्विक प्रभुत्व है। वह निर्यात पर आधारित अर्थव्यवस्था है। इसलिए जब तक प्रत्यक्ष हित का संघर्ष नहीं होगा, तब तक वह भारत के विरोध में अपने सेना को शामिल नहीं करेगा। यदि चीन को पाकिस्तान के लिए युद्ध करना ही होता तो वह पाकिस्तान को कभी परमाणु अस्त्र के निर्माण में सहयोग नहीं करता।

यदि भारत पाकिस्तान को पारंपरिक युद्ध में हरा देता है और यह संभावना बनती है कि पाकिस्तान परमाणु हथियारों का प्रयोग कर सकता है, तो चीन निश्चित रूप से वैश्विक उत्तरदायित्व के भाव से महाशक्ति के रूप में हस्तक्षेप कर सकता है। इससे उसका क्षेत्रीय वर्चस्व बढ़ेगा। चीन कभी नहीं चाहेगा कि भारत अपनी समस्या हमेशा के लिए समाप्त कर दे। यदि भारत पाकिस्तान को परास्त कर देता है, भारत की क्षेत्रीय प्रतिष्ठा बढ़ जाएगी। चीन ऐसा कभी नहीं चाहेगा क्योंकि चीन का पाकिस्तान को सहयोग अमेरिका से भिन्न है। अमेरिका ने कभी भी पाकिस्तान के सैन्य क्षमता में वृद्धि के लिए सहयोग नहीं किया, लेकिन चीन पूरी तरह पाकिस्तान के क्षमता के विकास में सहयोग कर रहा है।

भारत का रणनीतिक विकल्प

यदि गिलगित-बाल्टिस्तान के भूभाग पर पाकिस्तान का अवैध नियंत्रण में नहीं होता, चीन कभी पाकिस्तान में इतना बड़ा निवेश नहीं करता। गिलगित-बाल्टिस्तान चीन के लिए अधिक महत्वपूर्ण है, भले ही उसे पाकिस्तान ने अधिकृत किया हो। यह भू-भाग मध्य एशिया के लिए लांचिंगपैड साबित होगा। पाक अधिक्रांत लद्दाख ही वह भूभाग है जिसके कारण चीन पाकिस्तान के प्रति उदार

है। गिलगित-बाल्टिस्तान के माध्यम से ही चीन पाकिस्तान के संपर्क आता है और उसका आर्थिक गलियारा का आधार ही यह क्षेत्र है।

भारत शांति के सभी माध्यम अपनाने चाहिए लेकिन इस संबंध में भूमि विवाद प्रमुख है। गिलगित-बाल्टिस्तान भूभाग भारत में वापस लाने के लिए शक्ति ही माध्यम है। इसी स्थिति में युद्ध अनिवार्य हो सकता है। वर्तमान संदर्भ के लिए भारत को अपने शक्ति का विस्तार और शक्ति का संतुलन ही विकल्प है।

निष्कर्ष

भारत के दृष्टि से चीन और पाकिस्तान का गठजोड़ महत्वपूर्ण है। उभरते भारत के लिए सबसे बड़ी चुनौती है कि दोनों देशों से कैसे निपटा जाय क्योंकि दोनों मित्रता के दृष्टि से अविश्वासनीय है। दोनों देशों के साथ सीमा विवाद है और युद्ध हो चुका है। इसलिए शक्ति संवर्धन ही राष्ट्र के लिए उचित मार्ग है।

प्रगाढ़तम रहे हैं भारत-तिब्बत के सांस्कृतिक संबंध

✍ डॉ प्रशांत कुमार

लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के शहीद भगत सिंह महाविद्यालय में सहायक प्राध्यापक हैं।

प्रस्तुत लेख भारत व तिब्बत के प्राचीन काल से लेकर भारत की आजादी तक के एतिहासिक व सांस्कृतिक निरंतरता को देखने का प्रयास है। वर्तमान में चीन-भारत विवाद के बीच इस संबंध को समझना आवश्यक हो जाता है। जिस सीमा रेखा को चीन विवादित बता रहा है, उसे भारत विवादित नहीं मानता। भारत ने 1950 में ही स्पष्ट कर दिया था कि जो 1914 में मैकमोहन संधि हुई थी, वही भारत की सीमा है। जब तक सीमा भारत और तिब्बत के बीच थी, कोई विवाद नहीं था। जब चीन ने तिब्बत पर कब्जा कर लिया तो हिमालय का पूरा परिप्रेक्ष्य ही बदल गया। चीन जबरदस्ती का पड़ोसी बना और उसने इस सीमा रेखा को चुनौती देना शुरू किया।

प्रश्न उठता है कि चीन लद्दाख सहित अरुणाचल प्रदेश में जो दावा कर रहा है, उसमें तिब्बत का क्या दृष्टिकोण है? तिब्बत सरकार अर्थात परम पावन दलाई लामा द्वारा संचालित केंद्रीय प्रशासन क्या स्टैंड है? इसका उत्तर है कि दलाई लामा अनेक बार घोषणा कर चुके है कि मैकमोहन लाइन ही भारत तिब्बत की सीमा रेखा है। दलाई लामा तिब्बत राष्ट्र के भी प्रतिनिधि है व राज्य के भी। चीन तिब्बत के इतिहास के आधार पर इस सीमा पर अपना दावा करता है जब कि उसका इस हिस्से (सियाचिन से लेकर तवांग तक) में भारत के साथ राजनयिक संबंधों का कोई इतिहास नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में हमे पूरे हिमालय क्षेत्र के इतिहास व उसमें तिब्बत की स्थिति का ऐतिहासिक व सांस्कृतिक पक्ष जानना आवश्यक हो जाता है।

वैसे प्राचीन काल से ही तो पूरा एशिया, जिसे जम्बूद्वीप के नाम से हम जानते थे, एक संवाद, शांति के संस्कार से जुड़ा रहा, संवाद रचना हमारे केंद्र में थी। उनके बीच में समान उदार विचारों को धर्म के माध्यम से बांधा जाता रहा, आज के जैसी सीमाएं नहीं थीं। लोग सरलता से आया जाया करते थे। हिमालय जिस विचार, दर्शन, पूजा पद्धति को अनुप्राणित करता था वह धीरे धीरे भारतवर्ष में व्यापक हो गया था, इसलिए भारतीय मन बिना हिमालय के अधूरा है। कोई भी प्राचीन साहित्य हो उसमें हिमालय का जिक्र जरूर रहता है; चाहे तंत्र हो या बौद्ध दर्शन हो या शैव या शाक्त मत। महात्मा बुद्ध हिमालय की घाटी में पैदा हुए और हिमालय की घाटियों में बसे देशों के बीच इसका व्यापक प्रसार हुआ।

इसी लिए तिब्बत के लोग भारत को सदैव आर्य भूमि, ज्ञान भूमि, गुरु देश बोलते रहे है। दोनों देशो की आस्थाओं व विश्वास का सांस्कृतिक उत्स एक ही रहा है। मानसरोवर व जखोंग मंदिर सदियों से एक दूसरे के पास आते रहते है। जिन देवी देवताओं की पूजा हिंदुस्तान में होती है, उन्ही

देवी देवताओं की पूजा तिब्बत में होती रही है। वहाँ तारा की पूजा होती है, जो दुर्गा का एक स्वरूप है। वांगचुक भगवान शिव का ही रूप है, गुरु पद्मसंभव ने बड़ी साधना से यह स्थापित किया कि वांगचुक व तारा ही बौद्ध मठों के मातृदेव होंगे। मोटे तौर पर एक ही सांस्कृतिक धारा दोनों स्थानों में अनुप्राणित होती रही है।

प्राचीन सम्बन्ध

तिब्बती साहित्यिक स्रोतों (बुस्टोन व गोस्सला) के अनुसार महात्मा बुद्ध तिब्बत कई बार आये थे। जब पहली बार आये थे तो तिब्बत जल में डूबा हुआ था। फिर उनकी कृपा से यह घने जंगलों में बदल गया जिसमें आर्य अवलोकितेश्वर व आर्य तारा का अवतार क्रमशः बंदर व यक्षिणी के रूप में हुआ। दूसरी मान्यता है कि तिब्बत के पहले सम्राट न्यात्री टेम्पो, जिनका शासन कल 127 ईस्वी माना जाता है, एक भारतीय राजकुमार थे, जो सीधा स्वर्ग से वह लुहारी ग्यांग्दो नामक पर्वत पर उतरे, जब लोगो ने उनसे बात करनी चाही और पूछा कि वह कहाँ से आये हैं तो उन्होंने भारत की ओर इशारा किया। इस मान्यता का अर्थ है कि तिब्बत में बौद्धक्रांति का प्रारम्भ भारत से हुआ व पवित्र भारत के आधार पर राजा ने अपनी वैधानिकता को स्थापित किया। तभी से इस भारतीय व्यक्ति के राज्यारोहण की याद में तिब्बती नया वर्ष लोसर मनाया जाने लगा। एक मान्यता यह भी है कि चौथी शताब्दी में आसमान से दो बौद्ध ग्रन्थ राजभवन में गिरे जिसे राजा पढ़ पाने में असमर्थ था। अगर इस सातवीं शताब्दी के क्रम में देखें तो पता चलता है की ये दो ग्रन्थ चिंतामणि धरनी व पंगकोनिमा थे जो भारतीय पंडित द्वारा तिब्बत लाये गये थे। इसी प्रकार तिब्बत के राजा अपने को नेपाल व वैशाली के लिच्छवी वंश (महात्मा बुद्ध के वंश से) से जोड़ने की कोशिश करते थे। कई विद्वान इस बात से सहमत भी हैं कि तिब्बत के राजाओं की वंशावली वैशाली व लुम्बिनी के लिच्छवी राजाओं से मिलती है। इसी कारण अपने आस पास के राजाओं से ये अपने को श्रेष्ठ समझते थे। इन मान्यताओं से पता चलता है कि भारत तिब्बत में राज्य की वैधानिकता तो देता ही था, साथ में बौद्ध युग से पहले एक सांस्कृतिक सम्पर्क भी अस्तित्व में था।

भारतीय इतिहास में नागों का इतिहास बहुत पुराना है। वाशुकी नाग, तक्षक नाग आदि। पौराणिक परम्परा में कश्यप ऋषि नागों के पिता थे। भद्रवा, जम्मू, कांगड़ा आदि पहाड़ी क्षेत्रों में नाग राजाओं की मूर्तियां पायी जाती है। वाशुकी नाग का राज्य कैलाश पर ही था और यहीं पर शेषनाग जी का भी वास था। भगवान शंकर जी का वास यही होता था, भगवान शिव का रूप भी यहाँ के निवासियों की तरह ही मंत्रो में दर्शाया गया है- 'कर्पूर गौरं'। इंद्र का दरबार यही पर माना गया है। पौराणिक ग्रंथों व महाभारत में देखें तो इस देश को त्रिविष्टप कहा गया है, जहाँ अनेक भारतीय राजाओं के जाने का वर्णन है। वैवस्वत मनु ने जल प्रलय के बाद इसी को अपना निवास स्थान बनाया था। तिब्बती रामायण व बाल्मीकि रामायण में बहुत साम्यता है। महाभारत में एक राजा था- संपति जो कौरवों की तरफ से लड़ रहा था, वह युध्द से भयभीत होकर 1000 सैनिकों सहित तिब्बत की ओर भाग गया और कालांतर में यहाँ राज्य करने लगा। अन्य साहित्यिक स्रोतों में कालिदास के साहित्य में तिब्बत की वनस्पति, जलवायु का सौंदर्य वर्णन है ही। मेघदूतम में यक्ष का निवास स्थान अलकापुरी है, यह अलकापुरी मानसरोवर के पास ही है।

पुरातात्विक स्रोतों में दो विहार - समये व सक्या महत्वपूर्ण हैं। तिब्बत का पहला विहार था 'समये'। इसे बनवाया था शांतिरक्षित व पद्मसम्भव ने। इस विहार का वास्तु उदन्तपुरी जो भारत का प्राचीन विश्वविद्यालय था के आधार पर था। डॉ सत्यकेतु विद्यालंकार मानते है कि इस मठ का तिब्बत की राजनीति व धर्म में बहुत योगदान रहा। दूसरा प्रमुख मठ- 'साक्या मठ' का निर्माण विक्रमशिला के नमूनें पर हुआ। भारत मे बहने वाली अनेक नदियों - ब्रह्मपुत्र, सतलुज, सिंधु का उद्गम स्थल यहीं पर हैं।

सातवीं शताब्दी के बाद से ही तिब्बत का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है । डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार, राहुल सांकृत्यायन (तिब्बत में बौद्ध धर्म) रिचर्ड्सन और चार्ल्स बैल के अनुसार एक असभ्य समाज था। लेकिन यह निष्कर्ष सही नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि जब स्ट्रोनग सेन गम्पो वहां पर गद्दी में बैठे तो राज व्यवस्था ठीक से संचालित होती रही। जाहिर है कि समाज व राज्य की व्यवस्था के लिए अनुकूल परिस्थियाँ यहाँ उपलब्ध थी। बॉन धर्म को लोग वहां पर मानते थे, जिसका भारत की तंत्र परम्परा व प्रकृति पूजा से काफी समानता थी।

स्ट्रोनग सेन गम्पो (569- 649 इस्वी) के सिंहासन पर बैठ जाने के बाद वहां राजनीतिक अवस्था ठीक हुई, इन्होंने अपनी राजधानी को यारलुंग से हटाकर लहासा में स्थापित किया। उन्होंने चीन व नेपाल के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसकी नेपाली पत्नी का नाम भ्रकुटी था, जो अपने साथ उपहार के रूप में बौद्ध अवशेष व थांगका ले गयी, औपचारिक रूप से बौद्ध धर्म की राजकीय शुरुवात यही से मानी जाती है। इस समय पूरे मध्य एशिया में एक सशक्त राज्य के रूप में तिब्बत उभरा। स्ट्रोनग सेन गम्पो ने तिब्बत से एक शिष्टमंडल भारत भेजा जिसका उद्देश्य तिब्बत के लिए लिपि का निर्माण व बौद्ध धर्म के ग्रंथों को तिब्बत लाना था। स्ट्रोनग सेन गम्पो ने अपने मंत्री थोंमी संभूत को 16 विद्वानों के साथ लिपि व संस्कृत सीखने के लिए भारत भेजा। संभूत ने तिब्बती भाषा की लिपि तैयार की जो पाणिनी के व्याकरण पर आधारित थी। इस लिपि का आधार ब्राह्मी था, तिब्बत की लिपि में 30 स्वर थे, जाहिर है कि यह बाये से दायें लिखी जाने वाली लिपि है । संभूत के कारण ही इस भाषा को भूटिया भी कहा जाता है। संभूत ने स्वयं बीस अवलोकितेश्वर सहित कई बौद्ध ग्रंथो का अनुवाद किया। कंजूर जो महात्मा बुद्ध के कथनों का संग्रह है, का 108 खण्डों में अनुवाद किया गया। लिपि व व्याकरण साम्यता के कारण आज भी इन तिब्बती ग्रंथों का संस्कृत में अनुवाद करना आसान है। तिब्बती लिपि चीन की तरह चित्रात्मक लिपि नहीं है, न ही चीनी वर्णलेख से कोई संबंध है । विद्वानों का मानना है कि चीन की लिपि को न स्वीकार करना उसके उस प्रतिरोध को भी इंगित करता है कि वह चीन के सांस्कृतिक प्रभुत्व में नहीं रहना चाहते। तिब्बती अनुवाद का कार्य भी तेजी से शुरू हुआ। इसी समय व्यापक स्तर पर भारत से बौद्ध धर्म तिब्बत गया, ढेर सारे बौद्ध विहार बनवाये गए, जिनमें जोखांग मंदिर मुख्य है, यह बहुत प्रसिद्ध व पवित्र मंदिर है, जो भारतीय विहार विक्रमशिला की तरह बना है।

त्रिसांग देत्सेन के शासन के दौरान (755-97) तिब्बती साम्राज्य अपने चरम पर था। उनकी सेनाओं ने चीन और कई मध्य एशियाई देशों में चढ़ाई की। तिब्बतियों ने 763 ईसवी में तत्कालीन चीन की राजधानी चांग ऐन (वर्तमान जियान) को घेर लिया, डर कर चीनी सम्राट भाग गया। तिब्बतियों ने वहां पर एक नए सम्राट की नियुक्ति की। इस विजय को ल्ह्यासा के एक अभिलेख में विजय स्मृति के रूप में अंकित किया गया है जिसमें 50 हजार रेशम की गांठे प्रतिवर्ष नजराने के रूप चीन ने देने की बात कहीं थी। त्रिसांग देत्सेन अपने साम्राज्य के प्रसार के लिए पश्चिम की ओर अमु दरिया तक पहुंचा और अब्बासी खलीफा हारून उर रशीद को भागने में मजबूर किया। त्रिसांग देत्सेन के समय ही बौद्ध धर्म राजमहल से निकल कर जन जन तक पहुंचा। इसमें भी भारत से गये शांतिरक्षित व पद्मसंभव का बड़ा योगदान है। शांतिरक्षित को त्रिसांग देत्सेन ने अपने राजदरबार में बुला भेजा था। शांतिरक्षित ने पहले बौद्ध मठ समये का निर्माण शुरू करवाया जो 766 इसवी में पूरा हो पाया। यह मठ पुराने बॉन धर्म व बौद्ध धर्म का दार्शनिक संगम है, जिसमें इस मठ की संरक्षक की भूमिका पुराने देवी देवताओं को स्वीकार किया गया है। इस तरीके से दो पन्थो (बॉन व बुद्ध धर्म) के मध्य का विवाद समाप्त हुआ। करुणा, अहिंसा एक सर्वमान्य गुण के रूप में अपना लिया गया, शिकार या मछली खाना राज्य द्वारा मना कर दिया गया।

गुरु पद्मसंभव रिम्पोचे

7वीं-8वीं शताब्दी में बौद्ध दर्शन के बड़े विद्वान् शांतिरक्षित, जो तिब्बत में पहले से ही राजकीय सरक्षण में थे, ने नालंदा में शिक्षण कार्य में लगे महान विद्वान् गुरु पद्मसम्भव को तिब्बत बुलाया, उनके साथ व बाद में नालंदा व कश्मीर से अनेक विद्वान् तिब्बत गये: दानशील, जैनमित्र, धर्म कीर्ति विमल मित्र शान्ति गर्भ आदि व बाद में अतिशा ने सम्पूर्ण जीवन वहाँ बौद्ध धर्म का प्रसार किया, कभी वापस अपने घर नहीं आ पाए। गुरु पदम् संभव 747 ईस्वी में वहां पहुंचे थे, उन्हें तिब्बत सहित पूरे हिमालयी क्षेत्र में दूसरे बुद्ध के रूप में माना जाता है, जिससे बड़ी श्रद्धा तिब्बतियों की उनके प्रति है, बहुटी से लोग उन्हें बोधिसत्व अमिताभ का अवतार भी मानते है। उन्होंने तिब्बत में चले आ रहे तंत्र के साथ कुछ हीनयान व महायान के तत्वों को मिलाकर एक नया बौद्ध धर्म- वज्रयान बौद्ध को स्थापित किया; इसकी अन्य विशेषता जिसमे लामा वाद है, इसमें अवलोकितेश्वर की पूजा होती है, सम-ये नामक बौद्ध विहार की स्थापना उन्होंने करवाया; निंगमा पंथ पद्मसंभव को अपनी परंपरा का संस्थापक मानता है। आज के तिब्बती धर्म का निर्माण पद्मसंभव ने किया, जो शांतिरक्षित के बाद आये। इन्हें गुरु मोंचे भी कहा जाता है। इनके जन्म के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है; परंपरा के अनुसार उनका अवतरण उद्दियाना राज्य के धनकोसा नामक झील में एक कमल के फूल के भीतर हुआ था। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये उद्दियाना स्वात घाटी में है अतः उन्हें स्वात घाटी से माना जाना चाहिए। कुछ लोगो ने उद्दियाना को उड़ीसा बताया है, अतः उनका जन्म उड़ीसा बताया। उपलब्ध स्रोतों के आधार पर उनका उड़ीसा से होना ज्यादा समीचीन प्रतीत होता है। वे उड़ीसा के राजा इंद्रभूति के पुत्र थे। राजा इंद्रभूति खुद 84 सिद्धों की परम्परा में से 42वें स्थान के सिद्ध थे, जाहिर है कि अपने पिता से ही पद्मसंभव जी ने तन्त्र सीखा होगा। साथ में तिब्बत का सम्बन्ध सिद्धों से भी जुड़ता है, इनमे भोग व योग का सम्मिलन होता है तंत्र, जादू आदि का उपयोग किया जाता है।

अपनी मृत्यु से पहले शांतिरक्षित ने भविष्यवाणी की थी कि भविष्य में बौद्ध धर्म के दो सम्प्रदायों के बीच विवाद होगा, जो उस समय फ़ैल भी रहा था। पहला चीनी बौद्ध धर्म था, जो वास्तव में ताओ धर्म से प्रभावित था, उसके अनुसार आत्मज्ञान एक तात्कालिक बोध है। इसे केवल पूर्ण शारीरिक व मानसिक निष्क्रियता से ही प्राप्त किया जा सकता है। यह सिद्धांत पूरे चीन में प्रचलित था। दूसरा शांतिरक्षित द्वारा तिब्बत में प्रतिपादित दर्शन था जिसके अनुसार आत्मज्ञान एक क्रमिक प्रक्रिया है, साधना, अध्ययन, विशेष क्रियाओं व सत्कर्मो के माध्यम से प्राप्त होता है। इसी को लेकर त्रिसांग देत्सेन ने राजधानी ल्यासा में सम-ये मठ में चीनी बौद्ध विद्वान् हेशंग मोहेयान व कमलजीत के मध्य शास्त्रार्थ आमंत्रित किया, दो वर्ष 792-94 तक यह चला; इस शास्त्रार्थ में कमलजीत विजयी घोषित किये गये; हेशंग मोहेयान को तुरंत तिब्बत छोड़ने का आदेश दिया गया। अभी भी तिब्बत के लोकनृत्य चाम में इस कहानी प्रदर्शित किया जाता है। इस शास्त्रार्थ का पूरा विवरण स्वर्ण अक्षरों से लिखा गया। सांकेतिक रूप से भी यह चीन की बौद्धिक परम्परा का परित्याग ही था और भारत ही ज्ञान का अंतिम स्रोत मान लिया गया।

नरेश राल्पाछेन के शासन के दौरान (815-36) तिब्बती सेनाओं को कई बार चीन की सेना पर विजय मिली और वर्ष 821-22 ईस्वी में चीन के साथ एक शांति समझौता संपन्न हुआ। इस समझौते के विवरण वाले शिलालेख तीन स्थानों पर पाये गये है : पहला चांग-ऐन में चीनी बादशाह के महल के दरवाजे पर, दूसरा ल्हासा में जोखांग मंदिर के मुख्य दरवाजे के पहले और तीसरा गुरु मेरू पर्वत पर स्थित तिब्बत -चीन सीमा पर। इसमें लिखा है कि यह न बदलने वाली संधि है। इसमें लिखा है कि चीन व तिब्बत अपनी सीमाओं का समादर करेंगे। चीन का पूर्व व पश्चिम का प्रदेश महान तिब्बत का भाग मान जायेगा। राल्पाछेन को तिब्बती साहित्य में ईश्वर के पुत्र के रुप में उल्लिखित किया जाता है। नेपाल

का एक बड़ा भाग इसने विजित किया। इसके काल में बड़े पैमाने पर संस्कृत साहित्य का सीधा अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया। एक तिब्बती-संस्कृत भाषा कोष तैयार किया गया, जिसकी सहायता से व्यापक मात्रा में संस्कृत साहित्य का सीधा अनुवाद किया गया।

जहाँ तक भारत से राजनीतिक सम्बन्धों की बात है वहाँ राजनीतिक संबंध मुख्य राजनीतिक सत्ता से कम ही रहे। क्योंकि समुद्रगुप्त नेपाल का वर्णन तो करता है पर तिब्बत का नहीं। 7वी शताब्दी में हर्षवर्धन ने अपना एक दूत चीन भेजा था अतः लगता है कि तिब्बत के साथ अच्छे संबंध रहे होंगे। दिल्ली सल्तनत के शुरुआती दौर में बख्तियार खलजी के पुत्र मुहम्मद ने 1204 में आक्रमण किया पर विफल रहा। लद्दाख के लोगो से जरूर उनका संघर्ष चलता रहता था कभी वो लद्दाख के लोगों को जीतते थे कभी लद्दाख उन्हें।

842 ई० में तिब्बत में नरेश राल्पाछेन के भाई 41वें नरेश त्रि वुडुम त्सेन की हत्या के बाद युद्धरत राजकुमारों, लॉर्ड और जनरलों में भयानक सत्ता संघर्ष छिड़ गया और महान तिब्बती साम्राज्य कई छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया।। तिब्बती इसे अंधकार युग मानते हैं। कॉनचोग ग्यालपो ने 1073 में शाक्य मठ की स्थापना की। इसके बावजूद भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध अविच्छिन्न रहे। भारत व नेपाल से लोग मानसरोवर की यात्रा करते रहे। भारत व नेपाल से लगे जो छोटे राज्य बने वो राजकीय व सामाजिक स्तर पर बौद्ध धर्म व भारत से जुड़े रहे। इनमें महत्वपूर्ण नाम दक्षिणी पश्चिमी तिब्बत के गुयेग राज्य के शासक येशु ओड (959–104) का है जिसने तिब्बत में फिर से बौद्ध धर्म को तीव्रता दी। वह खुद लामा थे, इस प्रकार वह पहले लामा राजा थे। इसमें अपने राज्य के 20 नौजवानों को कश्मीर व भारत के अन्य भागों में भेजा। साथ में उन्होंने कई युवा तिब्बतियों को भारतीय विहारों में संतों, योगियों, सिद्धों और विद्वानों से मिलने और बौद्ध पांडुलिपियों को वापस लाने और उन्हें तिब्बती में अनुवाद करने का आदेश दिया। ताकि अब तंत्र में ज्यादा विश्वास करने वाली सामान्य जनता को वास्तविक वज्र बौद्ध धर्म में दीक्षित किया जा सके। इनमें सबसे प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक रिंचेन जंगपो थे। चूंकि उस समय भारत व तिब्बत की सीमा बिलकुल खुली थी अतः रिनचेन जंगपो का तो प्रभाव भारत की तिब्बत सीमा से लगे स्पीती, किन्नौर, लाहौल, व जंस्कार में उसी समय हो गया था।

इसी कड़ी में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विद्वान अतिशा का नाम उल्लेखनीय है, जिन्हें तिब्बत की धार्मिक परंपरा में विशेष स्थान प्राप्त है। इन्हें तिब्बत लाने के लिए गुयेग राज्य के शासक येशु ओड ने ढेर सारा स्वर्ण देने का वादा किया लेकिन अतीश दीपांकर श्रीज्ञान (अतिशा) उनकी मृत्यु के बाद ही तिब्बत आ पाये। येशु ओड के उत्तराधिकारी राजा जंगचूब ओड ने अतिशा का भव्य स्वागत किया। अतीश दीपांकर श्रीज्ञान (जन्म-981, भारत, मृत्यु-1054) बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा (तांत्रिक महायान) के महान दार्शनिक थे। राजा राम पाल के समय ये विक्रमशिला विश्वविद्यालय के प्रख्यात आचार्य थे। तिब्बत के राजा के अनुरोध पर जिसे अतिशा नेपाल होते हुए तिब्बत गये। वहां पर 13 वर्ष वह जीवित रहे, वहाँ बौद्ध धर्म का परिमार्जन व प्रसार का कार्य किया। उनके साथ करीब तीन दर्जन बौद्ध विद्वान् भी तिब्बत गये थे। तिब्बत में प्रचलित लामा प्रणाली मूल रूप से इसी वज्रयान दर्शन का विकसित रूप है। उन्हें तिब्बत में मंजुश्री का अवतार माना जाता है तथा बुद्ध और पद्मसम्भव के बाद सबसे अधिक सम्मानित माना जाता है। इन्हें दक्षिण पूर्व एशिया में भी बौद्ध धर्म के प्रसार का श्रेय जाता है। तिब्बती ग्रंथों में अनुसार आचार्य दीपंकर(अतिसा) का जन्म बिहार के विक्रमशिला से थोड़ी दूर पर स्थित 'सहोर राज्य' में हुआ था, जिसकी पहचान पंडित राहुल सांकृत्यायन ने भागलपुर जिला (बिहार) के वर्तमान सबौर क्षेत्र से की है। किंतु कुछ विद्वानों के अनुसार उनका जन्मस्थान वर्तमान बांग्लादेश था। उल्लेखनीय है कि इस समय विक्रमशिला विश्वविद्यालय की ख्याति जापान, मंगोलिया, मध्य एशिया, चीन में हो चुकी थी।

तिब्बत का प्रसिद्ध तंत्र ज्ञाता मारपा ने भारत मे तंत्र शास्त्र की विद्या के ज्ञाता नारोपा से विद्या ग्रहण की। मारपा ने तीन बार भारत की यात्रा की थी। इसी तंत्र में तारा, जम्भाल व मरीचि डाकिनी का विशेष स्थान रहा। पद्मसम्भव, शान्तिरक्षित, वज्रशील आदि विद्वान तंत्र विद्या में पारंगत थे इसलिए उनकी स्वीकारोक्ति उंस समाज मे ज्यादा हो गयी क्योंकि तिब्बती पहले से ही तंत्र विद्या, जादू टोना आदि पर विश्वास रखते थे। भारतीय तांत्रिक ग्रंथों - हेवृज, गुह्यतन्त्र आदि का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया। वैसे तंत्र के बारे में अगर देखें तो इसका केंद्र हमेशा कैलाश पर्वत ही रहा है। यहाँ तंत्र सिद्ध हमेशा आते रहते थे। बौद्ध धर्म की मूर्तियां वहाँ पहुंची जिनमे वज्र धारा व पंच ध्यानी बुद्ध ने विशेष स्थान प्राप्त किया।

तिब्बत से विद्यार्थी पहले नेपाल आते, फिर भारत के बौद्ध विश्वविद्यालय में जाते थे। नेपाल में कुछ पाली व संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करते थे। अभी भी लामा कहते हैं कि इन अक्षरों ने तिब्बत को नैतिक व भौतिक दोनों प्रगति दी। पाणिनि को उसी उत्साह से पढ़ा जाता था जैसे कि भारत में। यहाँ तक कि रिचर्ड्स आदि विद्वानों ने तिब्बत आने से पहले संस्कृत सीखा। अभिधर्मा परंजपारमिता, नागार्जुन संवाद आदि का अनुवाद बड़ी मात्रा में हुआ। बौद्ध तर्क पद्धति, काव्यादर्श यहाँ तक कि नाट्यशास्त्र का भी अनुवाद हुआ। आज भी तारानाथ द्वारा लिखित हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म बौद्ध धर्म को जानने का एक बड़ा स्रोत है। तिब्बत व मंगोलिया की भाषाओं, मुहावरों, लोक कथाओं आदि में संस्कृत का बहुत बड़ा योगदान है। जैसे- आर्य, धर्म, पंडित, रत्न वज्र मंत्र शब्द उसी प्रकार ले लिए गए। तिब्बत में जब किसी बौद्ध धर्म की पुस्तक का अनुवाद होता था तो पहली पंक्ति में लिखा जाता था –''ग्याकर कडू'' जिसका अर्थ होता है- भारत की भाषा में। तिब्बती में एक लोकप्रिय प्रार्थना है ''रागी-गर पंचम बोडोला फक दीन चे''- अर्थात हम तिब्बती भारत व उसके महान पंडितों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। तिब्बत में भारतीय ज्योतिष ग्रंथ कालचक्र का अनुवाद किया गया। इसके बाद वहां के लोगों ने संवत्सर व उसके निर्मित चक्रों के आधार पर अपनी कालगणना शुरू की। दावा नोब्रु का मानना है कि तिब्बत में कर्म की प्रधानता का दर्शन भारत से आया।

भारतीय चिकित्सा प्रणाली का भरपूर प्रभाव तिब्बती चिकित्सा प्रणाली 'स्वारिग्पा' में देखने को मिलता है। जैसा कि सभी तिब्बती पारंपरिक विज्ञानों में कहा जाता है, चिकित्सा प्रणाली की उत्पत्ति बुद्ध शाक्यमुनि से हुई है। इसी प्रकार उसके चिकित्सा विज्ञान के इतिहास में देखे तो आयुर्वेद के साथ उसकी पूरी साम्यता है, जहाँ आयुर्वेद में विभिन्न ऋषियों के नाम दिए हैं, वहीं यहाँ पर उन ऋषियों के स्थान पर महात्मा बुद्ध लिखा होता है। जैसे कि समुद्र मंथन के माध्यम से औषधियाँ प्राप्त हुई, एक संघर्ष बुद्ध व राक्षसों के मध्य हुआ। बुद्ध ने ब्रह्मा को ज्ञान दिया और फिर वही ज्ञान एक लाख छंद के माध्यम से पृथ्वी पर गया। इसी प्रकार अष्ट ऋषियों ने बोधित्सव आत्रेय को ज्ञान दिया और आत्रेय के शिष्य ने इस चिकित्सीय ज्ञान को चरक संहिता के रूप में लिखा; जो पूरे औषधि विज्ञान के केंद्र में है। प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक का भी उल्लेख तिब्बती ग्रंथो में मिलता है। नागार्जुन को चिकित्सा पर कई ग्रंथों का लेखक कहा जाता है, नागार्जुन ने अपना ज्ञान अश्वघोष को दिया; जिन्होंने अष्टांग हृदय संहिता नामक चिकित्सीय ग्रन्थ लिखा, जिसका उपयोग आज भी मेडिकल के विद्यार्थी एक रिफरेन्स बुक के तौर पर करते है। तिब्बती मूलतः व्यापारी थे। प्राचीन काल से ही उनका भारत के साथ व्यापार होता था। विद्वान पाँच व्यापारिक मार्ग बताते है जिससे शताब्दियों से ऊन, भेड़, नमक, सुहागा आदि वो भारत लाकर बेचते थे। यहाँ से अनाज, कपड़ा, मसाला ले जाते थे। तिब्बती लोग दार्जिलिंग होते हुए सिक्किम जाते थे और वहाँ से सामान लेकर गांवो में बेचते थे।

मंगोल-तिब्बत सम्बन्ध

13वीं शताब्दी में मंगोलों (चंगेज खान) ने पूरे मध्य एशिया व तिब्बत सहित चीन को कब्जे में किया। तिब्बती भी मंगोलों से भयभीत थे, वहीं पर मंगोलों के मन में तिब्बत के लोगों के प्रति बौद्ध धर्म

के कारण एक श्रद्धा भी थी। अतः इन दोनों का संबंध अच्छा हो गया। तीसरे तिब्बती धर्मगुरु को मंगोल सम्राट ने 13वीं शताब्दी में दलाई की उपाधि दी। 'दलाई' शब्द मंगोल भाषा से निकला है जिसका अर्थ है: समुद्र। तब से धर्म गुरु के लिए दलाई लामा शब्द प्रयुक्त होने लगा। अर्थात जिसके पास अथाह ज्ञान है। तिब्बती मंगोल सम्बंध तब और प्रगाढ़ हुए जब एक मंगोल राजकुमार को चौथे दलाई लामा के रूप में चुन लिया गया। तिब्बत का कठिन दौर तब शुरू होता है जब वर्ष 1368 में मिंग राजवंश ने मंगोलों को पराजित किया और चीन पर हान वंश या मिंग वंश का अधिकार हो गया। अब उसने पुराने दावे के आधार पर तिब्बत को अपना भाग मानना शुरू किया, जिसे तिब्बती मना करते रहे। 17वीं शताब्दी में मंचूओं ने इस मिंग वंश को समाप्त किया, और अगले 250 साल तक वे चीन पर राज्य करते रहे। इस बीच तिब्बत लगभग स्वतंत्र रहा। कुओमिनतांग के नेता सनयात सेन ने 1912 में मंचूओं के क्विंग वंश को उखाड़ फेंका।

तिब्बत-नेपाल संघर्ष और चीनी दखल

वर्ष 1788-1793 के मध्य तिब्बत व नेपाल के बीच एक संघर्ष चला, जिसका कारण नेपाल द्वारा तिब्बती व्यापारियों को एक घटिया क्वालिटी के चांदी के सिक्के देना था। जैसा कि विदित ही है कि तिब्बती लोग मूलतः व्यापारी थे, जो पूरे हिमालय क्षेत्र में व्यापार करते थे। इसी समय नेपाल पृथ्वी नारायण शाह के नेतृत्व में संगठित हो रहा था। तिब्बत ने नेपाल के ऊपर दबाव बनाना शुरू किया कि अपने निम्न क्वालिटी के सिक्कों को वापस करे। ऐसा करने के लिए पृथ्वी नारायण शाह तैयार नहीं थे क्योंकि उससे अभी बन रहे नए साम्राज्य के ऊपर आर्थिक बोझ बढ़ जाता। इसके अलावा नेपालियों को तिब्बत से शिकायत थी कि वह बहुत ही घटिया किस्म का नमक नेपाल में बेचते हैं, उस समय नेपाल में नमक तिब्बत से ही आता था। इसी बीच में पृथ्वीनारायण शाह की मृत्यु हो गयी व राणा बहादुर शाह नेपाल की गद्दी पर आसीन हुआ था। इन सब कारणों से नेपाल ने तिब्बत के ऊपर चारों ओर से आक्रमण किया। सेनापति दामोदर पांडे व बम शाह के नेतृत्व में नेपाली सेना ने 1788 में तिब्बत पर आक्रमण किया। दोनो देशों के मध्य दक्षिणी तिब्बत के शेल्खर नामक जगह में बड़ा संघर्ष हुआ, जिसमें तिब्बत बुरी तरह पराजित हुआ। तिब्बत की ओर से पंचेम लामा ने गोरखा सेना के पास शांति प्रस्ताव भेजा। शांति वार्ता 1789 में संपन्न हुई जिसमें तिब्बत को युद्ध के लिए उत्तरदायी माना गया जिसके लिए उसे 50 हजार रुपये हर्जाने के रूप में नेपाल को देना था व नेपाली व्यापारियों को पूरे तिब्बत में व्यापार की छूट दी गयी। इसे कीरुंग की संधि कहा गया। तिब्बत ने यह हर्जाना देने से मना कर दिया अतः युद्ध फिर से शुरू हुआ, इस बार नेपाली सेनापति ने दिगरचा (digarcha) में आक्रमण कर वहाँ के बौद्ध मठ को लूट लिया। एक तिब्बती मंत्री धोरेन काजी को भी बंदी बना लिया गया। इस युद्ध ने चीन को तिब्बत व नेपाल के बीच में ला खड़ा कर दिया क्योंकि चीन की सहायता से तिब्बती सेना ने नेपाल को पराजित किया। यह युद्ध 1791-92 मे हुआ था। बाद में नेपाल ने चीन से अच्छे संबंध करने का कोशिश की, जिसमे यह तय हुआ कि नेपाल पर किसी नए देश के आक्रमण की स्थिति में चीन नेपाल की सहायता करेगा।

हालांकि चीन व नेपाली दोनों इस युद्ध में विजय के अपने अपने दावे करते हैं। नेपाली इतिहास में लिखा है 'चीनी सैनिकों के टुकड़े टुकड़े कर दिये, जिससे चीन संधि करने के लिये मजबूर हुए।' हालांकि इसका प्रभाव नेपाल पर ज्यादा नहीं पड़ा। उसका व्यापार ल्हासा से पूर्व की तरह होता रहा, उसके चांदी के सिक्के पूरी तिब्बत में चलते रहे लेकिन इस युद्ध में सबसे अधिक हानि चीन को बीच में लाने के कारण तिब्बत की हुई। इसके बाद 60 वर्षों तक तिब्बत नेपाल के संबंध सामान्य रहे। नेपाल का ताकतवर राजा जंगबहादुर 1856 में अपनी सीमाओं को हिमालय क्षेत्र में बढ़ाना चाहता था। इसलिए युद्ध आवश्यक हो गया। इसी युद्ध के अंत में तिब्बत व नेपाल के मध्य काठमांडू संधि हुई जिसमें 10

धाराएं हैं। नेशनल आर्काइव (दिल्ली) में यह संधि उपलब्ध है। तिब्बत को हर वर्ष 10 हजार रूपये नेपाल दरबार को देने थे। साथ ही, तिब्बत के ऊपर किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण की स्थिति में नेपाल मदद करेगा। भोट देश (तिब्बत) गोरखा व्यापारी से एक्ससाइज डयूटी नहीं लेगा। नेपाल ने कुति व करोंग में जिस भूभाग पर अधिकार कर लिया है, उससे नेपाल वापस होगा। गोरखा अपने ट्रेडमार्ट खोलने की अनुमति देगा। नेपाल व तिब्बत के मध्य रिश्ते 1950 तक इन्ही संधियों पर चलते रहे।

चुशुल की सन्धि

इसी बीच हमे जनरल जोरावर सिंह व चुशूल की सन्धि को याद कर लेना चाहिए, जिसने भारत व तिब्बत के संबंधो को एक नए सिरे से परिभाषित किया। जोरावर सिंह जम्मू कश्मीर के महाराजा गुलाब सिंह के सेनापति थे, उन्होंने गिलगित बल्तिस्तान सहित लद्दाख को विजित कर लिया था, इसके बाद उनका अगला लक्ष्य तिब्बत की तरफ था। इस अभियान के तहत कैलाश मानसरोवर अब जोरावर सिंह के आधिपत्य में थे। समीप में जोरावर सिंह ने तकलाकोट में भी एक किला बनवाया लेकिन उन्हें दिसम्बर तक रुकना पड़ा, जिससे इस क्षेत्र का तापमान शून्य से नीचे पहुंच गया था, भयानक बर्फबारी होना शुरू हुई। ज़ोरावर सिंह की सेना ऐसी कठिन परिस्थितियों में लड़ने के अभ्यस्त नहीं थी । जोरावर सिंह को वहीं मानसरोवर के तट पर पीछे से एक गोली लगी और वे शहीद हो गए।

ज़ोरावर सिंह की मृत्यु के बाद तिब्बती लोगों ने लद्दाख़ की ओर रुख किया; इसकी प्रतिक्रिया में अब गुलाब सिंह ने 8000 सैनिकों को भेजा। इसका नेतृत्व गुलाब सिंह के भतीजे जवाहिर सिंह कर रहे थे। जवाहिर सिंह ने लेह में तिब्बत को पराजित किया, तिब्बत को सहायता देने के लिये चीन की भी सेना यहाँ पहुंची थी। तिब्बती जेनरल डापों शतरा व दापों सुरखंग कैद कर लिए गए। उन्हें लेह ले जाया गया। दोनों के बीच में वर्ष 1842 में चुशुल नामक जगह में एक संधि हुई जिसमें महाराजा गुलाब सिंह की तरफ से दीवान हरि चंद और वजीर रतनू ने भाग लिया था। हकीकत यह थी कि दोनों पक्ष अब युद्ध नहीं चाह रहे थे। अतः उन्होंने इस सन्धि पर सहमति दर्शाई, जिसमे मानसर गांव, मानसरोवर तक जम्मू के अधिकार को स्वीकार किया गया। चीन भी 1962 तक इस सन्धि का पालन करता रहा। मानसर का राजस्व 1959 तक भारत सरकार के पास आता रहा। इस क्षेत्र से चाय, शाल आदि का व्यापार होता रहा।

ब्रिटिश व तिब्बत

तिब्बत ने किसी भी योरोपीय शासक को अपने यहाँ आने नहीं दिया, बल्कि वह पूर्ण स्वतंत्र राज्य रहा था। चीनी मंचू वंश के शासक ने 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मंगोलों व तिब्बतियों के आपसी फूट का लाभ उठाकर छठे लामा को सिंहासनारूढ़ करने के लिए सेना ल्हासा भेज दी थी। बाद में नेपाल ने तिब्बत पर आक्रमण किया जिसको चीनी सेना ने पराजित किया। इस कारण चीनी सेना यहाँ रुक गयी, लेकिन फिर तिब्बत स्वतंत्र था। चीन का मांचू वंश 19वीं शताब्दी के अंत में कमजोर होता गया और चीन का केवल नाममात्र का प्रभाव रहा। वारेन हेस्टिंग्स ने व्यापार के लिए एक प्रतिनिधिमंडल भेजा था पर तिब्बत ने उसे अनुमति नहीं दी क्योंकि व्यापार की आड़ में बिहार, भूटान और असम में ब्रिटिश खुराफात को तिब्बत देख चुका था।

ब्रिटिश तिब्बत को रूस व चीन के बीच में एक बफर स्टेट के रूप में रखना चाहते थे। 20वीं शताब्दी में 13वें दलाई लामा के ऊपर रूसी बौद्ध दोर्जीफ का बहुत प्रभाव बढ़ रहा था, जो दलाईलामा का गुरु भी बन गया था। अतः कर्जन ने 1903 में यंग हसबैंड को भेजा। यंग हसबैंड ने उसे आसानी से पराजित किया। दलाई लामा मंगोलिया चले गए, 75 लाख रुपये हर्जाना दिया, हालांकि यह बाद में 25 हजार हो गया था व चुम्बी घाटी भी छोड़ दिया था। लेकिन अब ब्रिटेन ने चीन को आगे किया। चीन से यह स्वीकार करवाया कि किसी भी बाहरी शक्ति को इस ओर अधिकार नहीं करने देंगे। ब्रिटिश सरकार

ने अपने सामरिक व आर्थिक हितों के लिए तिब्बत को चीन के हाथ पर सौंप दिया। इसके पीछे ब्रिटिश सरकार का मानना था कि चीन किसी भी तरीके से इतना मजबूत नहीं है कि ब्रिटिश भारत की सीमा को चुनौती दे सके। ब्रिटिश सरकार 1890 से लेकर 1914 तक तिब्बत के मामले में रूस व चीन के साथ छह सन्धियां कर चुकी थी, क्योंकि तिब्बत पर कब्जा करना ब्रिटिश को सैन्य व आर्थिक मोलभाव में ज्यादा उचित नहीं लगा। जब ब्रिटिश का नेपाल के साथ 1814-16 में युद्ध चला तो वह चीन के कैण्टन से हो रहे व्यापार को प्रभावित नहीं करना चाह रहा था, जो उस समय आय का बड़ा स्रोत था। साथ में ब्रिटेन को लग रहा था कि चीन को तिब्बत सौंपने पर रूस का भय कम हो जाएगा, 1906 में ब्रिटीश सरकार ने चीन की प्रभुता चीन के ऊपर स्वीकार कर ली क्योंकि इसी वर्ष सिक्किम तिब्बत समझौता हुआ जिसके कारण। इस प्रकार तिब्बत पर चीन की संप्रभुता स्वीकार करना ब्रिटेन की बहुत सुनियोजित रणनीति थी, न कि मांचू वंश के लिए कोई प्रेम।

वर्ष 1911 में सनयात सेन के नेतृत्व में चीन में क्रांति हो गयी और 13वें दलाई लामा ने पुनः ल्हासा में कब्ज़ा कर लिया। उन्होंने 1912 में पूर्ण स्वतंत्र राज बना लिया और मंगोलिया के साथ भी स्वतंत्र संधि की। अगले 22 वर्षों तक तिब्बत बिल्कुल स्वतंत्र राष्ट्र रहा। जब 1912 में सनयात सेन का राज्य बना तो ब्रिटिश भारत को उत्तरी सीमा का निर्धारण करना आवश्यक हो गया। इधर चीनी तिब्बत के उन हिस्सों पर अपना नियंत्रण चाहते थे जो उन्होंने 1911 में खो दिया था। अतः ब्रिटिश सरकार तिब्बत की स्थिति को पुनः परिभाषित करने के उत्सुक थी। अतः अंग्रेजों ने चीन व तिब्बत के बीच सीमा निर्धारित करने के लिए शिमला में तीनों राज्यों का एक सम्मेलन बुलाया। अक्टूबर 1913 से जुलाई 1914 तक शिमला कांफ्रेंस हुई, पर अंतिम समझौते पर चीन के प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर नहीं किया। ब्रिटिश प्रतिनिधि मैकमोहन के नाम पर इसे मैकमोहन रेखा कहा गया। चीन और तिब्बत के बीच 1920 के बाद 13 वर्षों तक कोई संबंध नहीं रहा। तिब्बत में 1939 में नए (14वें) लामा का राज्याभिषेक हुआ तो चीनी प्रतिनिधि भी आये और इस प्रकार फिर से राजनयिक संबंध स्थापित हुए। इस प्रकार 1912 से 1950 तक तिब्बत पूर्ण स्वतंत्र राज्य रहा। तिब्बत और नेपाल के संबंध 1856 की संधि के आधार पर चलते थे। इससे भी स्पष्ट होता है कि तिब्बत एक स्वतंत्र राज्य था जिसका अन्य देशों के साथ राजनयिक व व्यापारिक संबंध था। ब्रिटिश के व्यापारिक केंद्र पूरे तिब्बत में थे। तिब्बती प्रतिनिधि 1948 तक अपने पासपोर्ट से ब्रिटेन, फ्रांस अमेरिका की यात्रा करते थे। मतलब यह था कि तिब्बत कभी ब्रिटिश प्रभाव व कभी चीन के प्रभाव में, पर जब भी उसे मौका मिला उसने अपनी स्वतंत्र राष्ट्र की स्थिति को कायम करने की कोशिश की।

निकटवर्ती एशियाई देशों के प्रति भारत की आर्थिक नीति एवम् चीनी प्रतिरोध

✍ आशुतोष कुमार

लेखक जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में शोधार्थी हैं।

एशियाई देशों के प्रति भारत की सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक नीतियां एवम् कूटनीतियां परस्पर समरसता और उन्मुखता पर आधारित रही हैं। समसामयिक विश्व में घटित हो रही वैश्विक घटनाओं का आकलन करें तो सोशल मीडिया से लेकर समाचार पत्रों तक भारत एवम् चीन से संबंधित मुद्दे तथा कूटनीतियों को प्रखरतापूर्वक स्थान दिया जा रहा है। भारत-चीन की आर्थिक तथा कूट नीतियाँ एशियाई देशों के संरक्षण एवम् संवर्धन में किस प्रकार हितकर हैं, एशियाई देशों में विभिन्न माध्यमों, जैसे, द्विपक्षीय संबंध एवम् समझौते तथा विभिन्न एशियाई संस्थाओ के माध्यम से भारत का क्या योगदान रहा है, भारत द्वारा अपनाई जाने वाली आर्थिक कूटनीतियाँ कौन सी हैं, आदि प्रश्नों पर प्रस्तुत आलेख में चर्चा की गई है।

1. एशियाई देशों के प्रति भारत की आर्थिक नीति

एशियाई देशों में भारत की अहम भूमिका है। ऐसे में एशियाई देशों की आर्थिक हितों की रक्षा करना तथा इन देशों को विश्वजगत के पटल पर उचित स्थान प्रदान करने में भारत का दायित्व बढ़ जाता है। इन देशों को आर्थिक रूप से चीन की विस्तारवादी आर्थिक नीतियों के चंगुल से बचाने के लिए भारतइन देशों के साथ विभिन्न समझौते के माध्यम से संबंध मजबूत करने की कोशिश करता आ रहा है ताकि इन देशों की संप्रभुता सुरक्षित रूप से यथावत बनी रहे।एशिया आकार तथा जनसंख्या के अनुसार भी बहुत बड़ा है। एशियाई देशों की सीमा के भीतर भी अंतःनिहित जनसंख्या में विविधता उच्च स्तर पर है। ऐसी स्थिति में भारत की एशियाई देशों के प्रति कूटनीति,द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय समझौते में भी भिन्नता है।

एशियाई देशों के प्रति भारत की आर्थिक नीति का विश्लेषण निम्न आधार पर किया जा सकता है–

1. आर्थिक कूटनीतिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर
2. द्विपक्षीय संबंध एवम् क्रियान्वयन्ता के आधार पर
3. एशियाई आर्थिक संस्थानों द्वारा बहुपक्षता के आधार पर

मेंआर्थिक कूटनीतिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर :

भारत ने एशियाई देशों के प्रति कई कूटनीतियों का प्रयोग कर एशियाई देशों को विकासोन्मुख बनाया है। भारत कुछ निम्न नीतियों को आर्थिक कूटनीति के रूप में रूप में प्रयोग करता है।

अ . नेबरहुड प्रथम नीति : इस नीति के द्वारा भारत अपनी सीमावर्ती देशों के साथ के संबंध को प्रमुखता प्रदान करता है। इसमें बांग्लादेश, चीन, नेपाल, भूटान, म्यांमार, श्रीलंका जैसे देशों के साथ भारत का संबंध प्रमुख माना जाता है। वर्ष 2014 से इस नीति का प्रयोग वर्तमान सरकार द्वारा प्रमुखता से किया जा रहा है। वर्ष 2014 में प्रधानमंत्री के रूप में नरेन्द्र मोदी के प्रथम शपथ ग्रहण समारोह में सार्क देशों के शासनध्यक्ष को आमंत्रित कर इस कूटनीति का प्रारंभ किया गया था। आज भी भारत इस नीति का प्रयोग कर रहा है।

ब. एक्ट ईस्ट नीति : इस नीति के माध्यम से भारत एशिया-पेसिफिक देशों के साथ आर्थिक, सामरिक, सांस्कृतिक संबंध को मजबूती प्रदान करता है। वर्ष 2014 में इस नीति का सूत्रपात किया गया था। यह भारत द्वारा अपनाई गई 1991 की "पूर्व की ओर देखो (लुक ईस्ट) नीति" का ही व्यावहारिक स्वरूप है।

स. संभाव्य व्यापार संवर्धन नीति : भारत का एशियाई देशों के साथ आर्थिक संबंध कुछ परंपरागत साक्ष्यों तथा संसाधनों के आधार पर निर्धारित है, परंतु वर्तमान समय में भारत की आर्थिक स्थिति तथा अन्य एशियाई देशों की आर्थिक स्थिति में वृद्धि हुई जिससे व्यापार और निवेश में संभावना भी बढ़ी है। अतः आयातक तथा निर्यातक देशों के मध्य की मांग तथा पूर्ति को उच्च संभावित स्तर पर ले जाना इस कूटनीति का प्रमुख उदेश्य है।

द. टेक्नोलॉजी व्यापार कूटनीति : भारत नवीन आर्थिक कूटनीति के रूप में इस नीति को बढ़ावा दे रहा है। "इंटरनेशनल सोलर अलाइएन्स" तथा "वन सोलर, वन वर्ल्ड, वन ग्रिड" जैसे टेक्नोलॉजी विशेष कूटनीति का प्रयोग कर भारत एशियाई सहित अन्य देशों के साथ भी अपने संबंध मजबूत करने का प्रयास कर रहा है ।

2. द्विपक्षीय संबंध एवम् क्रियान्वयन्ता के आधार पर

आर्थिक कूटनीति के अतिरिक्त भारत ने द्विपक्षीय समझौते तथा उन समझौते का क्रियान्वयन के आधार पर भी एशियाई देशों के विकास में आर्थिक रूप से विशेष योगदान दिया है। द्विपक्षीय संबंध देशों के अनुसार प्रगतिशील होता है। यह परिवर्तनशील भी होता है ।

भारत का कुछ देशों के साथ द्विपक्षीय आर्थिक संबंधों का वर्णन निम्नलिखित है :

भारत और अफगानिस्तान

भारत, अफगानिस्तान के साथ "मानवतावादी कूटनीति" का प्रयोग करता है। अगर आर्थिक संबंध की बात करें तो अफगानिस्तान में भारत पांचवां सबसे बड़ा दानकर्ता है। अफगानिस्तान में भारत द्वारा दिये जाने वाला सहयोग में मुख्य रूप से मेंअवसंरचनात्मक प्रोजेक्ट (जैसे, अफगानिस्तान के संसद भवन का निर्माण करना, सालमा डैम शक्ति प्रोजेक्ट का निर्माण करना), मानवतावादी सहयोग, छोटे और समुदाय आधारित विकास परियोजना, शिक्षा और सामर्थ्य विकास है।

दोनों देशों के मध्य द्विपक्षीय व्यापार 2017-18 में 1.143 अरब अमेरिकी डॉलर का रहा है। 2017 में "भारत–अफगानिस्तान व्यापार और निवेश कार्यक्रम" का आयोजन किया गया था जिसका उद्देश्य दोनों देशों के मध्य व्यापार तथा निवेश को प्रोत्साहित करना था। 14वें सार्क सम्मेलन में अफगानिस्तान द्वारा सार्क समूह देशों में शामिल हुआ जिससे व्यापार में वृद्धि हुई।

भारत – भूटान

भारत तथा भूटान के मध्य मुक्त व्यापार की नींव वर्ष 1949 के मित्रता संधि में ही डाल दी गई थी। इस संधि के अनुछेद 5 में इसका वर्णन है । भूटान द्वारा निर्यात की जाने वस्तुओं में बिजली, फेरोसिलिकोंन, पोर्टलैंड सीमेंन्ट, डोलामाइट, इलाइची आदि है। वर्ष 1972 में भारत तथा

अफगानिस्तान के मध्य ट्रैड एण्ड ट्रांजिट समझौता किया गया था जिसके तहत दोनों देशों के मध्य व्यापार में वृद्धि हुई तथा भूटान की वस्तुओं को भारत के रास्ते अन्य एशियाई देशों में जाने की अनुमति दी गई। भूटान में भारत का पहला निवेश वर्ष 1972 में स्टेट बैंक ऑफ इंडिया के द्वारा भूटान के रॉयल बैंक में 40 प्रतिशत की एक्विटी में किया गया।

भारत – नेपाल

भारत तथा नेपाल के मध्य संबंध खुली सीमा रेखा तथा लोगों से लोगों के मध्य प्रत्यक्ष संबंध के कारण अपने आप में महत्वपूर्ण है। दोनों देशों के मध्य द्विपक्षीय व्यापार में 2001 के बाद से 10 गुना वृद्धि हुई है। द्विपक्षीय व्यापार में 0.55 अरब अमेरिकी डॉलर से 2017 तक 5.93 अरब अमेरिकी डॉलर की बढ़ोत्तरी हुई है। नेपाल में निवेश का प्रमुख स्रोत भारत है। नेपाल के कुल निवेश में भारत का योगदान 44 प्रतिशत है। नेपाल का न्यूनतम श्रम मूल्य, उदार आर्थिक नीति, पनबिजली आदि भारतीय निवेश को नेपाल की ओर आकर्षित करता है।

भारत–बांग्लादेश

बांग्लादेश के निर्यातकों में भारत प्रमुख है। बांग्लादेश में होने वाले निर्यातों में भारत का योगदान 11-12 प्रतिशत है। भारत में बांग्लादेश से होने वाले निर्यातों में 10 प्रतिशत का योगदान है। भारत तथा बांग्लादेश के मध्य वर्ष 2019 में बांग्लादेश की प्रधानमंत्री शेख हसीना की भारत यात्रा ने दोनों देशों के मध्य व्यापार को एक नया आयाम दिया है। दोनों देशों ने 7 समझौते तथा 3 परियोजना पर सहमति दी थी। 3 परियोजना में बांग्लादेश से LPG की खरीद को त्रिपुरा तक के लिए गैस पाइपलाइन का निर्माण, बांग्लादेश में "भारत बांग्लादेश दक्षता विकास संस्थान" का निर्माण शामिल है।

भारत-म्यांमार

भारत तथा म्यांमार के मध्य द्विपक्षीय व्यापार 1352.1 मिलियन डॉलर का है। म्यांमार भारत में कुल निर्यात का 15 प्रतिशत निर्यात करता है। म्यांमार के द्वारा भारत को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में दालें, कृषि तथा जंगली उत्पाद प्रमुख हैं। भारत द्वारा आयात की जाने वाली लकड़ी में म्यांमार का योगदान 12 प्रतिशत है। भारत म्यांमार को स्टील, दवाई, बिजली की वस्तु, रबर, प्लास्टिक आदि निर्यात करता है। दोनों देशों के मध्य वर्ष 1994 में सीमा व्यपार समझौता हुआ जिससे व्यपार में बढ़ोत्तरी हुई। भारत म्यांमार में निवेश करने वाला 13वां सबसे बड़ा देश है।

3. एशियाई आर्थिक संस्थाओं द्वारा बहुपक्षता के आधार पर

बहुराष्ट्रीय एशियाई आर्थिक संस्थाओं जैसे- आसियान, बीबीआईएन, बीसीआईएम, बीआईएमएसटीईसी, साफ्टा की एशियाई देशों के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत तथा आसियान के मध्य वर्ष 1995 से 2016 तक व्यापार में 11.9 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है। वर्ष 2016 में कुल व्यापार 64.3 अरब अमेरिकी डॉलर का भारत तथा आसियान के मध्य हुआ है। वर्ष 2015-16 में भारत को 13.8 अरब अमेरिकी डॉलर का निवेश प्राप्त हुआ था। वर्ष 2003 में बाली में व्यापक आर्थिक सहयोग समझौता हुआ जिससे भारत तथा आसियान के बीच बाधामुक्त व्यापार में बढ़ोत्तरी हुई।

भारत तथा बीबीआईएन - यह भारत, नेपाल, बांग्लादेश तथा भूटान के मध्य का समझौता है जिससे भारत के उतर पूर्वी राज्यों का इन देशों से व्यापार करने में बढ़ोतरी होगी। यह भारत की पहुँच को दक्षिण पूर्वी तथा पूर्वी एशिया के देशों तक एक सुगम मार्ग भी प्रदान करता है।

भारत तथा बीसीआईएम – यह एक 2800 किमी का आर्थिक गालियारा है। जिसका उद्देश्य बांग्लादेश, चीन, भारत तथा म्यांमार को आर्थिक रूप से जोड़ना है। इससे नए आर्थिक ज़ोन का निर्माण किया जाएगा जिससे देशों के मध्य आर्थिक संबंध में मजबूती आएगी।

साफ्टा - यह एक समझौता है जो वर्ष 2006 प्रयोग में आया। जिसके माध्यम से एलडीसी तथा एनएलडीसी वर्गों में बंटे देशों द्वारा टैरीफ दरों को कम करके व्यापार को प्रोत्साहित किया जाए।

भारत-चीन आर्थिक नीति का तुलनात्मक विश्लेषण एवम् क्रियान्वयन

भारत हमेंशा से शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करता है, जो भारत की आर्थिक नीति में भी प्रदर्शित होता है।

आर्थिक कूटनीति आधारित तुलनात्मक विश्लेषण :

अगर भारत तथा चीन की एशियाई देशों के प्रति आर्थिक नीति को विश्लेषित किया जाए तो कुछ आर्थिक कूटनीतियां हैं जिसके आधार पर वर्णन किया जा सकता है।

अ. भारत की आर्थिक नीति "मानवतावादी कूटनीति के सिद्धांत पर कार्य करती मालूम पड़ती है। जैसे, नेपाल में भूकंप के पश्चात भारत ने अवसंरचनात्मक विकास हेतु चार लाइन ऑफ क्रेडिट जारी किए, बल्कि चीन की आर्थिक नीति "चेकबुक डिप्लोमेसी" पर आधारित होती है अर्थात् चीन के द्वारा देशों को अधिक कर्ज दिया जाता है ताकि देश आर्थिक रूप से पंगु हो जाए।

ब . भारत की आर्थिक नीति सामर्थ्य निर्माण (कैपिसिटी बिल्डिंग) पर होती है, जिसका प्रमाण अफगानिस्तान, बांग्लादेश जैसे अन्य देशों में भी देखा जा सकता है। परंतु चीन की आर्थिक नीति "व्यापार विस्तार नीति" पर आधारित होती है। जैसे, चीन, श्रीलंका में पहले दक्षिणतम भाग में निवेश करता था, जहां सिंहलियों की जनसंख्या अधिक थी, परंतु अब ये श्रीलंका के उत्तरी भाग जहां तमिलों की संख्या अधिक है, वह निवेश कर रहा है ताकि भारत पर बाहरी दवाब बने और चीन का व्यापारिक हित पूरा हो जाए।

स. भारत की आर्थिक नीति "सॉफ्ट पावर कूटनीति" से भी निर्धारित होती है। जैसे, भूटान, मालदीव में सांस्कृतिक टूरिज्म के विकास हेतु निवेश करना। वहीं, चीन की आर्थिक नीति "भारत केंद्रित कूटनीति" होती है। जैसे, चीन भूटान के माध्यम से भारत को घेरने के लिए वह पर्यटन को बढ़ावा देना चाहता है।

एशियाई देशों में चीन की आर्थिक स्थिति और उद्देश्य

चीन-नेपाल: अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु चीन भारत की वर्ष 1949 की मित्रता की संधि को चीन नेपाल की संप्रभुता के लिय खतरा है, परिणामस्वरूप अभी नेपाल ने भारत की तीन जगहों- लिम्पियाधुरा, कालापानी तथा लिपुलेख को अपना क्षेत्र बताया है। 2019 में चीन–नेपाल के मध्य 15 लाख अमेरिकी डॉलर का व्यापार हुआ है। इसी वर्ष नेपाल में 90 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश चीन ने लिया है और नेपाल ने चीन के साथ ट्रांजिट प्रोटोकाल साइन किया है जिसके तहत नेपाल अब चीन के 4 समुद्री बंदरगाह और 3 स्थल बंदरगाह का प्रयोग करेगा जबकि अब तक नेपाल अपने दो तिहाई वस्तु के निर्यात के लिय भारतीय बंदरगाह का प्रयोग करती थी।

चीन–भूटान: इनका कोई अधिकारिक राजनयिक संबंध नहीं है। परंतु चीन पर्यटन के क्षेत्र में निवेश कर वह बढ़त बनाना चाहता है। चीन भूटान को नियंत्रित करने के लिय "तिब्बत कार्ड" का प्रयोग करता है परंतु उसमें सफल नहीं हो सका है।

चीन–अफगानिस्तान : दोनों देशों के मध्य सिल्क रूट के समय से ही आर्थिक संबंध है। "ट्रीटी ऑफ इकॉनामिक्स एण्ड टेक्निकल को कॉरपोरेशन 1964" द्वारा व्यापारिक संबंध को मजबूत करने का प्रयास किया गया है। वर्ष 2002 से अफगानिस्तान में चीन के व्यापार में 199 लाख से बढ़कर 70.4 करोड़ हो गया है। चीन की चाइना नेशनल पेट्रोलियम कॉरपोरेशन(china national petroleum corporation) ने अफगानिस्तान से खनिज तेल उत्पादन और इस सम्बन्ध में अनुसंधान के लिय समझौता किया है, चीन ऐसा करने वाला पहला देश है।

चीन-श्रीलंका: श्रीलंका की प्लान्टेशन उद्योग में चीन की 30-40 मिलियन डॉलर की निवेश है। वर्ष 1952 में चीन तथा नेपाल ने "बार्टर ट्रैड पैक्ट" हस्ताक्षरित किया था जिसके तहत चीन चावल के बदले श्रीलंका से रबर का व्यापार करता। विगत वर्षों में चीन ने श्रीलंका में हमबनटोटा बंदरगाह के निर्माण हेतु एक अरब डॉलर, कोलंबो पोर्ट सिटी प्रोजेक्ट के लिय 1.4 अरब डॉलर तथा नोरोचचोलाई कोल पावर प्रोजेक्ट के लिय 1.35 अरब डॉलर राशि प्रदान किया है।

चीन-बांग्लादेश : वर्ष 2015 में चीन बांग्लादेश का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार बना, इससे पहले 40 वर्षों तक भारत चीन की सबसे बड़ी व्यापारिक साझेदार था। बांग्लादेश के कुल निर्यात में 34 प्रतिशत चीन की हिस्सेदारी है। 2016 में शी जिनपीन के बांग्लादेश दौरे में 27 समझौते किए तथा 24 अरब डॉलर वित्तीय सहायता प्रदान किया। बांग्लादेश अपने कुल सैन्य सामग्री का 71.8 प्रतिशत चीन से खरीदता है। चीन बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव के माध्यम से एशियाई देशों में आर्थिक एकीकरण कर सप्लाई चेन को मजबूत करना चाहता है, इससे एशियाई देशों में चीन की आर्थिक नियंत्रण में बढ़ोतरी होगी।

भारत की आर्थिक नीति की आशंका और सुधार की संभावना

आशंका: जिस प्रकार चीन एशियाई देशों में अपने नीति को प्रमुखता से बढ़ा रहे हैं, ऐसे में प्रश्न ये उठता है कि भारत की आर्थिक नीति में क्या त्रुटियां रही हैं जो एशियाई देश को चीन की आर्थिक नीति की ओर आकर्षित हो रहा है। भारतीय आर्थिक नीति की कुछ त्रुटियां है, जैसे कि राजनीतिक विवाद और विश्वास की कमी। कुछ देश जैसे पहले पाकिस्तान और वर्तमान में नेपाल भारत के प्रति अविश्वास और अनावश्यक विवादों में पड़ रहे हैं, इनका परिणाम आर्थिक संबंध पर होता है। कुछ देशों का मानना है की सार्क के देशों पर भारत अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता है। भारत आर्थिक रूप से उन देशों से बड़ी शक्ति है, इसलिए भी यह आशंका भारत के प्रति अन्य देशों में है। व्यापार घाटा, एक बड़ी समस्या है जो भारत का अन्य देशों के साथ है। भारत ने दक्षिण एशियाई में कुल निर्यात का 6.6 प्रतिशत निर्यात किया जबकि उन देशों ने मात्र 0.65 प्रतिशत का निर्यात किया। एशियन डेवलपमेंट बैंक ने टैरिफ को भी व्यापार में एक बड़ी बाधा माना है। कुछ देश भारत पर यह आरोप लगाते हैं कि भारत की बाजार व्यवस्था तक अन्य देश की उत्पादों को समान अवसर नहीं दिया जाता है।

सुधार की संभावना: भारत को अपनी आर्थिक नीतियों में सुधार कर आर्थिक वातावरण को अवसरयुक्त बनाना चाहिए। इसके लिए भारत को ईज ऑफ डूइंग बिजनेस के मापदंड पर ध्यान देना चाहिए। टैरिफ दरों में कमी, व्यापार घाटा संतुलन और "साइंस डिप्लोमसी" का प्रयोग कर निवेश तथा देशों को आकर्षित करना चाहिए। तीन "आई" अर्थात् इनोवेशन, इनवेस्टमेंट और इंडस्ट्री का सुनियोजित विकास और निवेश कर आर्थिक संबंध को मजबूत करना चाहिए।

निष्कर्ष

सत्य एवम् अहिंसा के द्योतक तथा समन्वयता एवम् समरसता का पोषक भारत हमेशा एशियाई देशों के प्रगति के लिए तत्पर रहा है। भारत ने अपनी कूटनीति का सांस्थानिक, द्विपक्षीय या बहुपक्षीय माध्यमों से प्रयोग कर विकास में अपनी भूमिका अदा की है। वर्तमान समय में देशों की मानव पूंजी, संसाधनों, बाजार आकार तथा मांग में बढ़ोत्तरी हुई है तो भारत को भी अपनी कूटनीतिक नीतियों में परिवर्तन करना चाहिए। वर्तमान कोरोनाकाल भारत को एक अवसर दे सकता है कि भारत अपनी मजबूत दवाई उद्योग के माध्यम से "मेडिकल डिप्लोमेसी" का प्रयोग कर रिश्ते को और प्रगाढ़ करे।

संदर्भ

1. मोहन मलिक, साउथ एशिया इन चाइनाज फॉरेन पॉलिसी, पैसिफिका रिव्यू पीस, सिक्युरिटी एंड ग्लोबल चेंज, 2001
2. पीएचडी रिसर्च ब्यूरो, इंडिया-नेपाल इकोनॉमिक टाइज, जून, 2018
3. नुरुल इस्लाम, इंडो-बांग्लादेश इकोनॉमिक रिलेशन, इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 4-10 सितम्बर, 2004
4. विदेश मंत्रालय: इंडिया एंड अफगान रिलेशन
5. आशुतोष कुमार, ड्रैगन का आहार बनता एशियाई राष्ट्र: एजुकेशनल न्यूज E- मगज़ीन
6. सोफी बोइसियो डु रोशर : व्हॉट कोविड18 रिवील एबाउट चाइना साउथइस्ट एशिया रिलेशन, द डिप्लोमेट
7. एन मेरी मर्फी: ग्रेट पॉवर राइवेलरिज, डिप्लोमेटिक पोलिटिक्स एंड साउथइस्ट एशिया फॉरेन पॉलिसी एशियन सिक्युरिटी, 13वाँ अंक, 2017

धनुर्वेद से लेकर बोधिधर्म तक : युद्ध-कला की सनातन परम्परा और चीनी मार्शल आर्ट

✍ डॉ. जयप्रकाश सिंह
सहायक आचार्य, कश्मीर अध्ययन केन्द्र हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सप्तसिंधु परिसर, देहरा

धनुर्वेद, धनुर्विद्या और धनुर्धर का माहात्म्य भारतीय शास्त्रों में सर्वत्र देखने को मिलता है। भारतीय चिंतन में धर्म और न्याय, सत्य और ऋत, राष्ट्र और संस्कृति के संरक्षण-संवर्द्धन के लिए धनुर्वेद की शिक्षा और उसके सम्यक उपयोग पर बहुत बल दिया गया है। धुनर्धर यदि अपनी भूमिका निभाने में आलस्य करता है, तो परिणाम पूरी संस्कृति और राष्ट्र को भोगना पड़ता है। इसीलिए, भगवान श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर को उसकी भूमिका और महत्व का स्मरण कराने के लिए ही श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश देते है। राजधर्म के अंतर्गत दण्ड और नीति के प्रभाव की जिस महिमा का उल्लेख होता है, वस्तुतः वह धनुर्वेद से प्राप्त होती है, श्रेष्ठ धनुर्धर ही उसे प्राप्त करता है।

धनुर्वेद को युद्ध-कला और युद्ध-रणनीति की प्राचीनतम विद्या माना जाता है। धनुर्वेद, यजुर्वेद का उपवेद है। वेदों से व्युत्पन्न व्यावहारिक ज्ञान-शाखाएं उपवेद कही जाती हैं। धुनर्वेद के अतिरिक्त आयुर्वेद, गंधर्ववेद और शिल्पवेद को उपवेद माना जाता है। धनुर्वेद का शाब्दिक अर्थ तो धुनष संचालन की विद्या है, लेकिन यह धनुष तक सीमित नहीं है। यह सम्पूर्ण शस्त्र-विद्या है, सैन्य-विज्ञान है। धुनर्वेद वैदिक-विद्या और शब्द है। युद्ध-कला के भारत में अन्य शब्दों जैसे, आयुधविद्या, वीरविद्या, शस्त्रविद्या, स्वरक्षाकला आदि शब्दों का भी उपयोग होता रहा है।

अग्निपुराण में धनुर्विद्या के विविध-स्वरूपों को वर्णन मिलता है।[1] अग्निपुराण धनुर्विद्या को पांच हिस्सों में बांटता है। प्रथम श्रेणी को यंत्र-मुक्त कहा जाता है। जिसमें किसी यंत्र के जरिए शस्त्र का संधान किया जाता है। धनुष यंत्र-मुक्त श्रेणी में आता है। दूसरी श्रेणी को पाणि-मुक्त, कहते हैं। ऐसे हथियारों का उपयोग हाथ से फेंककर करते हैं। मुक्त-मुक्त हथियारों की ऐसी श्रेणी है, जिसका उपयोग हाथ से फेंककर और हाथ में रखकर, दोनों तरीकों से किया जा सकता था। भाला इस श्रेणी में आता है। अमुक्त श्रेणी के हथियार सदैव हाथ में रहते हैं। तलवार अमुक्त शस्त्र का उदाहरण है। पांचवी श्रेणी बाहु-युद्ध की है। यह निशस्त्र होकर हाथ और पैरों से लड़ा जाता है। आधुनिक मार्शल-आर्ट को बाहु-युद्ध की श्रेणी में रखा जा सकता है।[2] यह आश्चर्यजनक है कि जिस मार्शल-आर्ट का अभिकेन्द्र आज चीन को माना जाता है, उसका उद्धव और विकास भारत में हुआ है। यहीं पर उसने श्रेष्ठता के शिखर को स्पर्श किया। यहीं के एक बौद्ध भिक्षु बोधिधर्म मार्शल आर्ट को चीन लेकर गए, चीनियों को इस कला में दीक्षित किया और आज यह कला चीन की पहचान बन गई है।

योगविद्या का अभिकेन्द्र कोई और देश बनता, इससे पहले हमारे ऋषियों-संतों ने उसे एक भारतीय आध्यात्मिक विद्या के रूप में स्थापित कर दिया। लेकिन मार्शल आर्ट के संदर्भ में हम ऐसा

नहीं कर सके। संभवतः इसका एक बड़ा कारण अंग्रेजों द्वारा मार्शल आर्ट की भारतीय परम्पराओं पर लगाया गया प्रतिबंध भी था, जिसके कारण यह परम्परा नई पीढ़ी तक नहीं पहुंच पाई।[3] ओडिशा में पाइका-विद्रोह के बाद स्थानीय युद्धकला पाइका पर 1818 में प्रतिबंध लगा दिया गया। तमिलनाडु की सिलमबम और केरल कलरिपट्टू पर भी इस दौर में प्रतिबंधित किया गया।[4] पंजाब में शस्त्र-विद्या को औपनिवेशिक शासनकाल में प्रतिबंधित कर दिया गया था। और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब पूरी दुनिया का आकर्षण मार्शल-आर्ट की तरफ आकर्षित हुआ, तो भारतीय दक्षता की उस स्थिति में नहीं थे कि उस-समय अपना दावा कर सकें। कारण स्पष्ट है। यह गुरु और गुरुकुल केन्द्रित विद्या है-

श्रमेण चित्रयोधित्वं श्रमेण प्रात्यते जयः।
तस्माद्गुरुसमक्षं हि श्रमः कार्यो विजानता।।[5]

(श्रम से चित्र योधित्व प्राप्त होता है, श्रम से जय की प्राप्त होती है। सक्षम गुरु के समक्ष ही इस विद्या का श्रमपमूर्वक अभ्यास करना चाहिए।)

संगीत और योग के गुरुकुल तो औपनिवेशिक शासनकाल में बाधित नहीं हुए, लेकिन शिल्पवेद, आयुर्वेद और धनुर्वेद के गुरुकुल समाप्तप्राय हो गए, इसलिए उससे सम्बंधी विद्याएं अपूर्ण रूप में, विकृत रूप में या अवशेष रूप में ही हमें आज प्राप्त हैं। इसके विपरीत चीन में बोधिधर्म द्वारा पहुंचाई गई मार्शल आर्ट की विद्या वहां के धार्मिक स्थलों पर सतत रूप से जारी रही। यह तो सर्वस्वीकृत और सर्वविदित है कि भारत का ध्यान बोधिधर्म के माध्यम से चीन पर पहुंच कर चान बना और जापान-कोरिया में पहुंचकर झेन बन गया, लेकिन आधुनिक मार्शल आर्ट के पितामह के रूप में उनके योगदान से अभी तक जनमानस ठीक ढंग से परिचित नहीं हो पाई है। वर्तमान में जब भारत-चीन सम्बंधों को विविध स्तरों पर परिभाषित करने की कोशिश की जाती है और विविध कारणों से चीन को समझने की उत्सुकता में भी भारतीयों में बढ़ रही है तो मार्शल आर्ट और बोधिधर्म के सम्बंधों को समझने की आवश्यकता बढ़ जाती है। मार्शल आर्ट की परम्परा की पूंजी से परिचय भारतीयों में एक नया आत्मबल तो पैदा ही करेगा, ब्रांड भारत के साफ्ट-पॉवर को बढ़ाएगा ही, चीनी मानसिकता को समझने और उसे प्रभावित करने का एक नया सूत्र भी हमारे हाथ लग सकता है।

बौद्ध भिक्षु बोधिधर्म का संबंध केरल के पल्लव राजवंश से था। वह कांचीपुरम के राजा सुगंध के तीसरे पुत्र थे। उन्हें 28 वां और अंतिम बोधिसत्व भी कहा जाता है। बौद्ध धर्म के ज्ञान को भगवान बुद्ध ने महाकश्यप से कहा। महाकश्यप ने आनंद से और इस तरह यह ज्ञान चलकर आगे बोधिधर्म तक आया। बोधिधर्म इस ज्ञान व गुरु-शिष्य परंपरा के 28वें गुरु थे। उन्होंने अपने जीवन का एक बड़ा भाग चीन में बताया। बाद में उन्होंने कुछ योग्य व्यक्तियों को चुना और अपने मन से उनके मन को बिना कुछ बोले शिक्षित किया।

यही ध्यान-संप्रदाय कोरिया और जापान में जाकर विकसित हुआ, जिसे झेन कहा गया है। उनके प्रभाव से चीन में बौधधर्म की जिस शाखा का विकास हुआ, उसे चान बुद्धिज्म कहते हैं। बोधिधर्म का कोई ग्रंथ नहीं है, लेकिन झेन या चान सम्प्रदाय की इतिहास पुस्तकों में उनके कुछ वचनों का उल्लेख मिलता है। बोधिधर्म के समकालीन चीनी लेखक टान-लिन ने उन्हें पश्चिमी क्षेत्र का दक्षिण-भारतीय बताया है।[6] कुछ लोग पश्चिमी का अर्थ ईरान निकालते हैं, जबकि भारत भी चीन के पश्चिम में ही पड़ता है।

बुद्ध की शिक्षाओं को हिमालय के पार सबसे पहले भारतीय साधुओं ने फैलाया। चीनी परंपरा के अनुसार वर्ष 600 में भारतीय साधु बोधिधर्म ने प्रसिद्ध साओलीन मंदिर में मार्शल आर्ट्स की शिक्षा दी। समझा जाता है कि बोधिधर्म स्वयं दक्षिण भारत के रहने वाले थे जहाँ की मौलिक स्थानीय युद्ध कला कलारी पट्टू के नाम से प्रसिद्ध है और इसमें हाल के वर्षों में काफी परिवर्तन हुआ है।[7]

बोधिधर्म की चीन यात्रा

माना जाता है कि 520 ई. में उन्होंने चीन की यात्रा की थी। टानलिन ने बोधिधर्म के यात्रा वृत्तांत के बारे में कुछ नहीं बताया है। केवल इतना कहकर छोड़ दिया है कई सागरों और पहाड़ों को पार कर वे चीन पहुंचे। लेकिन सातवीं सदी के लेखक डाओ-जुआन ने उनकी चीन पहुंचने की यात्रा का भी विस्तृत वर्णन दिया है। डाओ-जुआन के अनुसार सबसे पहले वह सुंग के शासनकाल में नॉन-यू पहुंचते हैं। यहां से वे उत्तर की तरफ यात्रा करके वी के राज्य में पहुंचते हैं।[8] इसका अर्थ यह है कि बोधिधर्म चीन समुद्री-मार्ग से पहुंचे थे। कुछ महत्वपूर्ण स्रोत बताते हैं कि वह 527 ई. में चीन पहुंचे थे।[9] एंथोलॉजी ऑफ पैट्रीआर्कल हॉल में उन्हें 27 वें बोधिसत्व का शिष्य बताया गया है।

जब वह चीन पहुंचे तो वहां पर उस समय वी नाम का एक राजा था, जो बौद्ध धर्म का महान संरक्षक था। उसका बड़ा मन था कि भारत से कोई बौद्ध शिक्षक चीन आए और बौद्ध धर्म के संदेशों का प्रचार-प्रसार करे। इसके लिए उसने भरपूर तैयारियां भी कीं। राजा इंतजार करता रहा, लेकिन कोई भी बौद्ध गुरु नहीं आया। दिन बीतते गए और देखते ही देखते राजा साठ साल का हो गया। फिर एक दिन यह संदेश आया कि दो महान प्रबुद्ध गुरु हिमालय पार करके चीन आएंगे और बौद्ध धर्म के संदेशों का प्रचार करेंगे। यह सुनकर सब तरफ जैसे उत्साह का माहौल बन गया और राजा भी इस खुशी में एक बड़े उत्सव के आयोजन की तैयारी में लग गया। कुछ महीनों के इंतजार के बाद, चीन राज्य की सीमा पर दो लोग नजर आए। जैसे ही उनके आने की खबर राजा वू को मिली, वह अपने राज्य की सीमा तक खुद पहुंचा और उनके स्वागत और आदर-सत्कार की पूरी तैयारी के साथ वहां दोनों बौद्ध गुरुओं का इंतजार करने लगा। जब ये भिक्षुक वहां पहुंचे, तो लंबी यात्रा की थकान उन पर सवार थी। राजा वू ने उन्हें देखा तो उसे बड़ी निराशा हुई। दरअसल, उसे बताया गया था कि उन दोनों में से एक बहुत बड़े ज्ञानी हैं और इसलिए वह उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। लेकिन यह तो महज 22 साल का एक लड़का निकला। दूसरी तरफ, पर्वतों में महीनों की लंबी यात्रा से थके हुए बोधिधर्म भी राजा पर अपना कुछ खास प्रभाव नहीं छोड़ पाए। खैर, राजा निराश तो बहुत हुआ, लेकिन उसने किसी तरह अपनी निराशा को छिपाया और दोनों भिक्षुकों का स्वागत किया। उसने उन्हें अपने शिविर में बुलाया और उन्हें बैठने का स्थान देकर उनके भोजन की व्यवस्था की।

इस बीच, जैसे ही उसे सवाल पूछने का मौका मिला, उसने बोधिधर्म से कहा, 'क्या मैं आपसे एक प्रश्न कर सकता हूं?' बोधिधर्म बोले, 'बिलकुल कर सकते हैं।' राजा वू ने पूछा, 'इस सृष्टि का स्रोत क्या है?' बोधिधर्म राजा की ओर देखकर हंसते हुए बोले, यह तो बड़ा बेवकूफी भरा प्रश्न है! कोई और प्रश्न पूछिए। राजा वू ने खुद को बड़ा अपमानित महसूस किया। दरअसल, उसके पास बोधिधर्म से पूछने के लिए सवालों की एक पूरी सूची थी। ऐसे प्रश्न जो उसने कई सालों के दौरान सोचे थे, ऐसे प्रश्न जो उसके हिसाब से बेहद गहरे और गंभीर थे। और अब न जाने कहां से आए इस तुच्छ लड़के ने उसके ऐसे ही एक गहन प्रश्न को मूर्खतापूर्ण कह कर खारिज कर दिया। और वह भी वह प्रश्न जिस पर उसने कई गंभीर वाद विवाद और चर्चाएं की थीं। भीतर ही भीतर खुद को बहुत अपमानित और क्रोधित महसूस करते हुए भी, उसने अपने को संभाला और कहा, 'चलिए, मैं आपसे दूसरा प्रश्न पूछता हूं। मेरे अस्तित्व का स्रोत क्या है?' यह सुनकर बोधिधर्म और भी जोर से हंसे और बोले, 'यह तो और भी मूर्खतापूर्ण प्रश्न है! कुछ और पूछिए।' अगर राजा वू भारत के मौसम या बोधिधर्म की सेहत के बारे में पूछता, तो शायद बोधिधर्म फिर भी उसके सवालों का जवाब दे देते। मगर वह व्यक्ति तो 'इस सृष्टि के स्रोत' और 'अपने अस्तित्व के स्रोत' के बारे में पूछ रहा था। बोधिधर्म ने राजा के इन प्रश्नों को नकार दिया। अब तो राजा का पारा सातवें आसमान पर पहुंच गया, लेकिन फिर

भी उसने खुद को संभाले रखा और तीसरा प्रश्न पूछा कि 'बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिए मैंने कई ध्यान कक्ष बनवाए, सैकड़ों बागीचे लगवाए और हजारों अनुवादकों को प्रशिक्षित किया। मैंने इतने सारे प्रबंध किए हैं। क्या मुझे मुक्ति मिलेगी?' यह सुनकर बोधिधर्म गंभीर हो गए। वह खड़े हुए और अपनी बड़ी-बड़ी आंखें राजा की आंखों में डालकर बोले, 'क्या! तुम और मुक्ति? तुम तो सातवें नरक में झुलसोगे।' लेकिन राजा वू इसमें निहित भाव को समझ नहीं सके। वह गुस्से से भर गया और बोधिधर्म को अपने राज्य से बाहर निकाल दिया। बोधिधर्म को इससे कोई फर्क नहीं पड़ा। राजा वू के राज्य से निकाले जाने के बाद बोधिधर्म पर्वतों में चले गए। वहां उन्होंने कुछ शिष्यों को इकट्ठा किया और पर्वतों में ही ध्यान करने लगे।[10]

बोधिधर्म और मार्शल आर्ट

बोधिधर्म को मार्शल आर्ट का जनक माना जाता है। माना जाता है कि अपनी चीन यात्रा के दौरान उन्होंने स्थानीय लोगों को ध्यान की एक विशेष पद्धति, जो बाद में झेन के नाम से प्रसिद्ध हुई, में दीक्षित किया और उसका अभ्यास कराना शुरू किया। लेकिन अपनी कमजोर शारीरिक और मानसिक क्षमता के कारण चीनी लोग ध्यान की प्रक्रियाओं को ठीक ढंग से संपादित नहीं कर पाते थे। ध्यान के लिए तो घंटों अविचल ढंग से बैठने की जरूरत होती है और अपनी एकाग्रता को हर स्थिति में बनाए रखने की आवश्यकता होती है, इसके लिए बेहतर स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है। बोधिधर्म ने अपने शिष्यों की शारीरिक और मानसिक क्षमता को बढ़ाने के लिए श्वास आधारित विभिन्न शारीरिक मुद्राओं को गढ़ा और यही मुद्राएं आगे चलकर मार्शल आर्ट का आधार बनीं। यह बात उल्लेखनीय है कि मार्शल आर्ट में श्वास की गति पर नियंत्रण के साथ ही विभिन्न तरीके की की तकनीकें सीखी जाती हैं, इसीलिए मार्शल आर्ट को गतिशील प्राणायाम भी कहा जाता है। दूर से देखने पर मार्शल आर्ट, आत्मरक्षा की एक तकनीक मात्र दिखती है लेकिन वास्तविकता में इसका दायरा आत्मरक्षा से बहुत बड़ा है। शारीरिक मुद्राएं तो आसानी से सीखी जा सकती है, लेकिन ये असरकारी तभी बनती हैं जब श्वास पर नियंत्रण के साथ उपयोग में लाई जाएं। दूसरे शब्दों में कहें तो श्वास का नियंत्रण ही विभन्न तरह की तकनीकों में जान डालता है। इसलिए आज भी मार्शल आर्ट सिखाते समय यह बताया जाता है कि सच्चा योद्धा वही है जिसका अपनी श्वास पर पूरी तरह नियंत्रण हो। इसके अतिरिक्त ध्यान, योग और कुंडलिनी शक्ति से जुड़ी हुई विभिन्न अवधारणाओं का उपयोग मार्शल आर्ट में किया गया है। जापानी मार्शल आर्ट का मुख्य लक्ष्य ही जीवनमुक्ति को बताया गया है। आत्मरक्षा उसका बहुत छोटा सा हिस्सा है। ध्यान, प्राणायाम और मार्शल आर्ट के लक्ष्यों में अद्भुत समानता इसी बात को साबित करता है, मार्शल आर्ट किसी ध्यानी, किसी योगी के दिमाग की उपज होगी।[11]

बोधिधर्म और शाओलिन

वी राज्य में बहिष्कृत होने के बाद बोधिधर्म शाओलिन टेम्पल की नजदीक गुफाओं में ध्यान करने चले गए। कहा जाता है कि वह उपयुक्त पात्र की प्रतीक्षा करते हुए लगातार नौ वर्षों तक ध्यान करते रहे, लगातार एक दीवार को देखते रहे। बाद में हॅयूके नामक शिष्य ने अपना एक हाथ काटकर उन्हें अपनी प्रतिबद्धता के बारे में आश्वस्त किया। कहा जाता है कि इसके बाद बोधिधर्म ने शाओलिन में अपने शिष्यों को मार्शल आर्ट की शिक्षा प्रदान की। ध्यान की स्थिति के लिए जैसी शारीरिक और मानसिक क्षमता चाहिए, वह चीनी भिक्षुओं में नहीं थी, इसीलिए उन्होंने मार्शल आर्ट की शिक्षा देनी शुरू की। उन्होंने शारीरिक मजबूती के लिए कुछ मुद्राएं बताई, जिन्हें एटीन अर्हत हैंड्स कहा जाता है और मानसिक सम्बल के लिए जो विधि प्रदान की उसे सिन्यू मेटामार्फोसिंस क्लासिक कहा जाता है। बोधिधर्म के शाओलिन टेम्पल छोड़ने के बाद वहां से उनके द्वारा लिखित

दो पुस्तकें प्राप्त होती है-यीजिन जिंग (Yijin Jing) और जीसुई सिंग (Xi Sui Jing)। इनमें से यीजिन जिंग अब भी प्राप्त होती है, जबकि जीसुई जिंग अब अप्राप्य है।

बोधिधर्म और आयुर्वेद

बोधिधर्म चीन देश के नानयिन (नान-किंग) गांव पहुंचे तो गांव के लोगों ने उन्हें एक आपदा के रूप में लिया गया। कहते हैं कि इस गांव के ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के अनुसार यहां बहुत बड़ा संकट आने वाला था। बोधिधर्म के यहां पहुंचने पर गांव वालों ने उन्हें ही यह संकट समझ लिया। ऐसा जानकर उन्हें उस गांव से खदेड़ दिया गया। वे गांव के बाहर रहने लगे। उनके वहां से चले जाने पर गांव वालों को लगा की संकट चला गया। दरअसल, संकट एक संक्रामक महामारी के रूप में गांव में आया। गांव के लोग बीमारी से ग्रसित बच्चों या अन्य लोगों को गांव के बाहर छोड़ देते थे, ताकि किसी अन्य को यह रोग न लगे।

बोधिधर्म आयुर्वेद का अच्छा ज्ञान था, तो उन्होंने ऐसे लोगों की मदद की तथा उन्हें मौत के मुंह में जाने से बचा लिया। तब गांव के लोगों को समझ में आया कि यह व्यक्ति हमारे लिए संकट नहीं बल्कि संकटहर्ता के रूप में सामने आया है। गांव के लोगों ने तब ससम्मान उन्हें गांव में शरण दी। बोधिधर्म ने गांव के समझदार लोगों को जड़ी-बूटी कुटने और पीसने के काम पर लगा दिया और इस तरह पूरे गांव को उन्होंने चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराकर गांव को महामारी से बचा लिया।[12] मार्शल आर्ट में भी परम्परागत चिकित्सा, नस-नाड़ी विज्ञान का अब भी खूब उपयोग होता है, मार्शल आर्ट और आयुर्वेद का यह युग्म बोधिधर्म के चिंतन से ही निकला हुआ माना जाता है।

बोधिधर्म और चाय की कहानी

मान्यता के अनुसार ध्यान की प्रक्रिया में नींद आने की समस्या से त्रस्त होकर बोधिधर्म ने अपने पलक के बालों को उखाड़कर फेंक दिया था। यही पलकें चाय के पौधे के रूप में उगीं, जिसकी पत्तियां नींद को भगाने में सहायक होती हैं। बोधिधर्म पर्वत की उपत्यका में रहते थे। उस पर्वत का नाम 'टा' था, क्योंकि चाय पहली बार इस स्थान पर खोजी गई थी। यही कारण है उसको 'टी' कहा गया। बोधिधर्म से जुड़ाव के कारण ही झेन और चान बौद्ध धर्म में चाय को बहुत पवित्रता और विधि-विधान के साथ ग्रहण किया जाता है। एक बौद्ध भिक्षु अपना दैनिक जीवन चाय से आरंभ करता है। उषा काल में, इसके पूर्व कि वह ध्यान करने जाए, वह चाय पीता है। ध्यान कर लेने के उपरांत वह चाय पीता है। और वह इसे बहुत धार्मिक ढंग से, बहुत गरिमापूर्वक और अहोभावपूर्वक पीता है। इसे कभी एक समस्या के रूप में नहीं सोचा गया वस्तुतः बौद्धों ने ही इसकी खोज की थी। ऐतिहासिक रूप से यह बोधि धर्म से संबंधित है।

ओशो के अनुसार बोधिधर्म परम जागरूकता की एक अवस्था उपलब्ध करने का प्रयास कर रहा था। वह कठिन है। तुम भोजन के बिना कई दिन जीवित रह सकते हो। लेकिन नींद के बिना। और वह जरा सी नींद को भी नहीं आने दे रहा था। एक समय, सात आठ दिन बाद, अचानक उसे अनुभव हुआ कि नींद आ रही है। उसने अपनी आँख की पलकें उखाड़ दी और उनको फेंक दिया, जिससे कि अब जरा भी समस्या न रहे। ऐसा कहा जाता है कि वे पलकें भूमि पर गिरी वे चाय के रूप में अंकुरित हो गई। वहीं कारण है कि चाय जागरूकता में सहायक होती है। यदि तुम रात्रि में बहुत अधिक चाय पी लो तो तुम सोने में समर्थ नही हो पाओगे। और क्योंकि सारा बौद्ध मन यही है कि कैसे वह बिंदु उपलब्ध हो जहां नींद बाधा न डाले और तुम पूर्णतः जागरूक रह सको। निःसंदेह चाय करीब-करीब एक पवित्र वस्तु, पवित्रों में पवित्रतम हो गई है।

जापान में आश्रमों में छोटे से घर, टी हाउस, चाय घर हुआ करते हैं। जब वे किसी चाय घर में जाते है, तो वे इस भांति जाते हैं, जैसे कोई चर्च या मंदिर में जा रहा हो। वे स्नान करते है, वे नए

स्वच्छ वस्त्र धारण करते है। वे अपने जूते बाहर छोड़ देते है। वे मौन में आशीष में चलते है। वे बैठ जाते है। ....और यह एक लंबा अनुष्ठान है। यह कोई ऐसा नहीं है कि तुम गए और चाय ली और पी और चले गए। इतनी जल्दी नहीं। देवताओं के साथ शुभ व्यवहार होना चाहिए, और चाय देवता है। जागृति की देवता, इसलिए वे मौन में बैठेंगे। और केतली अपना गीत गा रही है। पहले वे इस गीत को सुनेंगे। अभी वे तैयारी कर रहे है। केतली पर ध्यान लगायेंगे।

फिर उनको कप और प्लेट दिए जाएंगे। वे कपों और प्लेटों को छुएंगे। उनको देखेंगे क्योंकि वे कला की कृतियां है। और कोई बाजार से खरीदे हुए कप उपयोग करना नहीं पसंद करता है। प्रत्येक आश्रम अपने स्वयं के कप और प्लेट बनाते है। धनी लोग स्वयं के लिए बनाते है। गरीब लोग यदि अपने स्वयं के लिए कप और प्लेट बनाने के व्यय को वहन न कर सकें तो वह बाजार से खरीद लाते है। उनको तोड़ देते है उनको पुनः जोड़ते है, तब वे पूर्णतः अनूठे बन जाते है। तब चाय उड़ेली जाती है। और प्रत्येक, गहन, ग्राह्य, ध्यानपूर्ण भाव दशा में होता है, उनकी श्वास धीमी और गहरी चल रही होती है। और तब चाय पी जाती है जैसे कि कुछ दिव्य तुम पर बरस रहा हो।[13]

चीन से अंतिम प्रयाण

एंथ्रोलॉजी ऑफ पैट्रीआर्कल हॉल के अनुसार मृत्यु के तीन साल बाद वी राज्य के एक अधिकारी सोनग्यून ने बोधिधर्म को पामीर के पठार पर अपना एक जूता अपने सिर रखकर भ्रमण करते हुए देखा। उसके कहने पर लोयांग में बोधिधर्म की समाधि खोली गई, किन्तु उसमें एक जूते के अलावा और कुछ न मिला। कुछ लोगों का कहना है कि बोधिधर्म चीन से लौटकर भारत आए। जापान में कुछ लोगों का विश्वास है कि वे चीन से जापान गए और नारा के समीप कतयोग-यामा शहर में एक भिक्षुक के रूप में उन्हें देखा गया।

बोधिधर्म ने शाओलिन में जिस मार्शल आर्ट की शिक्षा दी, वह केरल में अब भी प्रचलित युद्ध कला कलारिपट्टू पर आधारित है। हमें बोधिधर्म के चिंतन और व्यक्तित्व का उपयोग भारत-चीन के बीच सांस्कृतिक सेतु के रूप में करना ही चाहिए। लेकिन बोधिधर्म का महत्व भारत के लिए इससे कहीं अधिक है। बोधिधर्म का चिंतन और कर्म हमें भारत के मूल स्वभाव से परिचित कराने मे अतीव सहयोगी साबित हो सकता है। वह स्वभाव जो ध्यान-साधना और शांति-पथ की यात्रा में संघर्ष और हिंसा की बाधाओं से भागता नहीं, उनके अस्तित्व का नकारता नहीं बल्कि उन्हें स्वीकार करता है, उन पर विजय प्राप्त करने का उद्यम करता है। सम्पूर्णता की इस स्थिति में मार्शल आर्ट ध्यान बन जाता है और ध्यान, मार्शल आर्ट बन जाता है। संभवतः इसीलिए मार्शल आर्ट के सिद्धहस्त उसे हाथ-पैर चलाने की कला के बजाय मूविंग-मेडिटेशन के रूप में परिभाषित करना अधिक पसंद करते हैं।

संदर्भ

1. अग्निपुराण, अध्याय 248-251
2. http://hinduonline.co/Scriptures/DhanurVeda/DhanurVeda.html
3. https://www.reuters.com/article/us-britain-sikh-martialarts/british-sikhs-revive-deadly-art-banned-by-the-raj-idUSTRE56M2KD20090723
4. https://medium.com/martial-arts-unleashed/silambam-is-taking-over-the-world-here-is-everything-you-need-to-know-d649bb970931
5. श्रीमद्ब्रहर्षिवशिष्ठ प्रणीता, धनुर्वेदसंहिता, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ 21
6. Tan-lin's preface to the Two Entraces and Four Acts
7. https://www.independent.co.uk/news/uk/this-britain/ancient-but-deadly-the-return-of-shastar-vidiya-1679002.html

8. Daoxuan in his book " Further Biographies of Eminent Monks"
9. Anthology of the Patriarchal Hall written in 952 A.D
10. https://isha.sadhguru.org/in/hi/wisdom/article/ek-bodh-katha-bodhdharma-ki
11. बोधिधर्म का ध्यान और चाय की कहानी, दिव्य हिमाचल, 28 नवम्बर, 2015
12. https://hindi.webdunia.com/buddhism-religion/bodhidharma-5-secrets-117022200069_1.html
13. ओशो, पतंजलि योगसूत्र, भाग-5, प्रवचन-10

पुस्तक चर्चा

तिब्बतम् शरणम् गच्छामि

✍ डॉ. शैलेन्द्र कुमार

लेखक भारत सरकार के वित्त मंत्रलय में संयुक्त सचिव हैं। लेख में व्यक्त विचार पूर्णतः व्यक्तिगत हैं।

तिब्बती धर्मगुरु दलाई लामा ने चीन के अत्याचारों, चालबाजियों और कमजोरियों का विस्तृत वर्णन अपनी आत्मकथा में किया है। उनके अनुभवों का यह दस्तावेज चीन के प्रति भारत की नीति को नयी दिशा दे सकता है। प्रस्तुत आलेख में इस आत्मकथा के ऐसे महत्वपूर्ण बिन्दुओं की विवेचना की गयी है।

पिछले कुछ समय से हम चीन के साथ लद्दाख की गलवान घाटी में उलझे हुए हैं। पर जब तक बात केवल उलझने तक ही सीमित थी, तब तक तो सह्य थी। लेकिन इस बीच दोनों सेनाओं के बीच जमकर हाथपाई भी हुई और वह भी ऐसी खूनी हाथपाई कि हमारे बीस सैनिकों को अपना सर्वोच्च बलिदान देना पड़ा। इसलिए अब जब हमारे सैनिकों ने अपना बलिदान दे ही दिया है, तो हमें चीन के विरुद्ध हर वह काम करना चाहिए, जो हम कर सकते हैं। युद्ध का क्षेत्र हो या कोई और विजयी होने के लिए सबसे अधिक ध्यान ज्ञान एवं नीति पर होना चाहिए। अंततः ज्ञान ही जीतता है। ऋग्वेद में वर्णित है - 'धियो विश्वा विराजति'। यह ज्ञान ही है, जो विश्व पर राज करता है। अतः हमें अपने इस सूत्र को पकड़े रहना चाहिए। इस प्रकार हमें चीन की दुर्बलताओं की ओर विश्व का ध्यान खींचना चाहिए। इस दिशा में हम इतना लिखें, बोलें और विमर्श करें कि सबका हाथ चीन की कमजोर नसों पर पड़ जाए। फिर चीन की सारी आक्रामकता तिरोहित हो जाएगी। इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि तिब्बत चीन की सबसे बड़ी कमजोरी है और भारत अकेला ऐसा देश है, जो चीन को तिब्बत के कारण पानी पिला-पिला कर मार सकता है।

तिब्बत का क्षेत्रफल 12 लाख वर्ग किलोमीटर है। यह क्षेत्रफल इतना बड़ा है कि भारत (32 लाख वर्ग किलोमीटर) जैसे विशाल देश के एक-तिहाई क्षेत्रफल से थोड़ा अधिक है। चीन का क्षेत्रफल 96 लाख वर्ग किलोमीटर है, जिसका आठवां भाग केवल तिब्बत का ही है। अपनी विस्तारवादी नीति का अनुसरण करते हुए चीन ने बड़ी निर्ममता से इतने बड़े देश को अपने में मिला लिया। भारत के कुछ लोगों के अतिशय अंग्रेजी प्रेम के कारण हम तिब्बत की 'सॉव्रेनटी' और 'सूजेरेंटी' के शब्दजाल में फंसकर कुछ नहीं कर पाए और तिब्बत को मिलाने के बाद उल्टे चीन ने ही हमारे ऊपर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध की विडंबना यह थी कि भारत की सेना द्वितीय विश्व युद्ध की विजयी सेना का हिस्सा रह चुकी थी, लेकिन नेतृत्व की अदूरदर्शिता के कारण हमने पर्याप्त तैयारी नहीं की और हमारी पराजय हुई। पर सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि युद्ध की समाप्ति के बाद भी चीन पीछे नहीं हटा, वरन भारत के एक बड़े हिस्से को अपने कब्जे में ले लिया, जो स्थिति आज तक बनी हुई है।

भारत की स्वतंत्रता के तुरंत बाद से ही चीन-पाकिस्तान गठजोड़ कायम हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हमारी पूरी-की-पूरी उत्तरी और पश्चिमी सीमा पर स्थायी रूप से शत्रु सेना का जमावड़ा हो गया। भारत के पूर्वोत्तर के लगभग सभी पृथकतावादी संगठनों की चीन और पाकिस्तान दोनों ने ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि पूर्वोत्तर के तीन दर्जन के आसपास ये सभी पृथकतावादी संगठन वामपंथी विचारधारा को मानते हैं। स्पष्ट है कि ये संगठन चीन से अतिशय लाभान्वित होते हैं।

पर चीन की महत्तम दुर्बलता यह है कि यह देश घोर अलोकतांत्रिक है और हमें इसके विषय में कुछ भी सही ढंग से पता नहीं चलता। अंग्रेजी मोह के कारण हमने विश्व की अन्य भाषाओं को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। आज इसका परिणाम यह है कि हमारे पास गिनती के ही लोग हैं, जो चीनी भाषा बोल और लिख सकते हैं। जबकि हमसे यह अपेक्षित था कि अब तक कई हजार भारतीय चीनी भाषा में प्रवीण होते। और यदि ऐसा होता तो हम उसका साहित्य पढ़कर और चीनी लोगों से सीधे मिलकर उनकी मन:स्थिति का पता लगाते। लेकिन हम बिल्कुल पंगु हो गए हैं। विडंबना यह है कि हम अपने निकटतम पड़ोसी देश के विषय में यह दावा भी नहीं कर सकते कि हम उसके विषय में पश्चिमी देशों से रत्ती भर भी अधिक जानते हैं। बल्कि हो सकता है कि हम उनसे भी कम जानते हों। इसलिए समय आ गया है कि चीनी भाषा पढ़ने के लिए सरकार छात्रों को प्रोत्साहित करे। हो सके, तो सरकार इन छात्रों को छात्रवृत्ति भी दे। चीनी भाषा अत्यंत कठिन भाषा है। इसमें अक्षर नहीं होते, जिनको जोड़कर हम शब्द बनाते हैं। चीनी लिपि चित्रलिपि है। अर्थात शब्द के स्थान पर चित्र है और इन चित्रों की संख्या हजारों में है। इसलिए इस भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है। यह भी एक कारण है जिसके चलते छात्र इस भाषा को सीखने से कतराते हैं।

तिब्बत विश्व के सर्वाधिक अहिंसक देशों में गिना जाता था। पूरी तरह बौद्ध धर्म का पालन करने के कारण इसके शासन के पास पर्याप्त सेना नहीं होती थी। क्या ऐसे अहिंसा और शांति के पुजारियों को अपनी तरह से जीने का अधिकार नहीं था? अचानक चीन ने शांतिप्रिय तिब्बत पर आक्रमण कर दिया। पर तिब्बती लोगों की प्रतिक्रिया देखिए कि उन्होंने चीनी अधीनता को अस्वीकार कर दिया और या तो वे चीनी सेना से लड़े या दुर्गम पहाड़ों के बीच होते हुए अत्यंत कठिन परिस्थितियोंमें भारत आए। ये तिब्बती पिछले छः दशकों से अपनी जन्मभूमि से दूर भारत में निर्वासित जीवन जी रहे हैं। विश्व में बहुत कम ऐसे समाज होंगे, जो इस प्रकार अपनी मातृभूमि से वंचित नागरिकताविहीन जीवन जी रहे हों। अब तक इनकी दो पीढ़ियां भारत में ही परलोक सिधार चुकी हैं। अब तो इनमें अधिकतर वे हैं, जिनका जन्म भारत में ही हुआ है। कितना बड़ा त्याग, बलिदान और तपस्या भारत में रह रहे तिब्बती समाज ने की है। अपनी जन्मभूमि को छोड़ने की पीड़ा ये आज तक झेल रहे हैं। शांतिप्रिय जीवन शैली के कारण तिब्बतियों से भारतीय समाज को न्यूनतम कष्ट हुआ है।

लेकिन यह सब हुआ कैसे ? इसका सबसे सीधा उत्तर यही है कि यह सब तत्कालीन भारत सरकार की नीति के कारण हुआ। इसको जानने के लिए हमें सबसे प्रामाणिक स्रोत अर्थात दलाई लामा के पास जाना होगा। दलाई लामा अपनी आत्मकथा - 'मेरा देश निकाला' में लिखते हैं कि, 'तिब्बत चीन का कभी हिस्सा नहीं रहा था। प्राचीनकाल से चीन के अनेक बड़े-बड़े भागों पर तिब्बत का दावा रहा है। इसके अलावा दोनों देशों के लोग नृजाति और प्रजाति दोनों दृष्टियों से एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। हम दोनों न एक भाषा बोलते हैं और न तिब्बती भाषा की लिपि चीनी लिपि से जरा भी मिलती है।' यही बात बाद में ज्यूरिस्ट्स के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने भी कही थी :

"सन 1912 में चीनियों को अपने देश से निकालने के विषय में तिब्बत की स्थिति को तथ्यात्मक रूप से स्वतंत्र माना जा सकता है.....इसलिए यह निवेदन किया जाता है कि सन 1911-12 की घटना

को पूर्णत: प्रभुसत्तात्मक और तथ्य व कानून की दृष्टियों से चीनी नियंत्रण से पुनः स्वतंत्र हुआ राज्य माना जाए।" (पृष्ठ 71)

वास्तव में सच तो यह है न केवल तिब्बत कभी भी चीन के अधीन नहीं रहा, बल्कि सन 763 में तिब्बत की सेनाओं ने चीन की राजधानी पर ही कब्जा कर लिया था और उन्हें वहां से 'कर' तथा अन्य सुविधाएं प्राप्त होती थीं। लेकिन जैसे-जैसे बौद्ध धर्म में उनकी रुचि बढ़ी, उनके अन्य देशों से संबंध राजनीतिक न रहकर आध्यात्मिक होते चले गए। चीन के संबंध में यह बात विशेष रूप से सच थी और उसके साथ तिब्बत के संबंध कुछ 'पुजारी-संरक्षक' जैसे हो गए। मंचू सम्राटों ने, जो बौद्ध थे, दलाई लामा को 'विस्तारशील बौद्ध धर्म का सम्राट' कहा था। (पृष्ठ 17-20)

इस सबके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात तो यह है कि चीन और तिब्बत के बीच सदियों पुरानी संधि थी, जिसके अनुसार एक देश कभी भी दूसरे पर आक्रमण नहीं करेगा। दलाई लामा लिखते हैं कि, तिब्बत में जोखांग मंदिर सबसे पवित्र माना जाता है। इसका निर्माण सातवीं शताब्दी में राजा सोंगत्सेन गाम्पो के शासन काल में उसकी एक पत्नी भ्रिकुटी देवी, जो नेपाल की राजकुमारी थी, के द्वारा लाई गई एक प्रतिमा को स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया था। इस मंदिर का एक महत्वपूर्ण अंग इसके प्रवेश द्वार पर खड़ा वह पत्थर का स्तंभ है, जो तिब्बत के प्राचीन इतिहास और उसकी शक्ति का परिचायक है। इस पर तिब्बती और चीनी दोनों भाषाओं में सन 821-22 में दोनों देशों के मध्य हुई स्थायी संधि का विवरण खुदा हुआ है, जो इस प्रकार है :

"तिब्बत के महाराज…तथा चीन के महाराज…दोनों का रिश्ता भतीजे और चाचा का है…… दोनों ने एक महान संधि की और उसकी पुष्टि की है। सब देवता और मनुष्य इसे जानते हैं और गवाही देते हैं कि यह कभी बदला नहीं जाएगा। इस संधि का विवरण पत्थर के इस स्तंभ पर अंकित किया जा रहा है, जिससे भावी युगों तथा पीढ़ियों को भी इसका ज्ञान हो सके।" (पृष्ठ 51)

इतने सारे साक्ष्यों और प्रमाणों के होते हुए भी चीन की नई-नई कम्युनिस्ट सरकार ने 1950 से ही चोरी-छिपे और धोखे से तिब्बत में अपनी घुसपैठ शुरू कर दी। जब दलाई लामा को इसका आभास हुआ तो उन्होंने सभी महत्वपूर्ण देशों, जिनमें चीन भी शामिल था, के यहां अपने राजदूत भेजे। लेकिन जहां अन्य देशों तक उनके राजदूत पहुंच ही नहीं पाए, वहीं चीन की सरकार ने इन राजदूतों से बलात एक अनुबंध पर हस्ताक्षर करवा लिए और दलाई लामा की नकली मुद्रा भी उस पर अंकित कर दी। (देखिए चीनी सरकार की धोखाधड़ी !) इस अनुबंध के अनुसार, चीनी अधिकारी और सेना तिब्बत में तिब्बत के लोगों को सहायता पहुंचाने के लिए रहेगी। और दलाई लामा के लिए कहा गया कि चीनी अधिकारी और सेना उनके राज्य में प्रगति कराने का काम करेगी। इसके बाद दलाई लामा को बीजिंग भी बुलाया गया। वहां जाकर उन्हें समझ में आने लगा कि चीनी सरकार वास्तव में क्या चाह रही है। इधर चीनी सेना और तिब्बत के लोगों के बीच आए दिन झड़पें होने लगीं, जो धीरे-धीरे करके तिब्बती लोगों द्वारा चलाए गए स्वाधीनता संग्राम में परिणत हुईं।

इस बीच एक बौद्ध सम्मेलन में भाग लेने के कारण दलाई लामा भारत आए। उन्हें अन्यान्य कारणों से भारत से सर्वाधिक आशा थी। वह तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से मिले और अपनी और तिब्बत की पूरी दुखद और पीड़ादायक कथा सुनाई। परंतु नेहरू ने उन्हें किसी भी तरह की सहायता देने से मना कर दिया। (यहां ध्यातव्य है कि सात समंदर दूर से अमरीका ने तिब्बतियों की यथाशक्ति सहायता की।) फिर भी दलाई लामा उनसे कई बार मिले और यहां तक कह दिया कि तिब्बत की स्थिति इतनी विस्फोटक है कि मैं स्वयं भी वहां नहीं जाना चाहता और यह भी कि मुझे भारत में ही शरण दीजिए। नेहरू ने उनसे कहा कि मैं आपके लिए चाउ एन लाइ (तत्कालीन चीनी प्रधानमंत्री) से बात करूंगा। और संयोगवश कुछ ही दिनों बाद चाउ एन लाइ भारत आए और नेहरू ने दलाई लामा से

उनको दिल्ली हवाई अड्डे पर मिलवाया। लेकिन जैसा कि सर्वविदित था चाउ एन लाइ झूठ बोलने में माहिर थे और उन्होंने तिब्बत को लेकर दलाई लामा को आश्वस्त किया कि आप ल्हासा पहुंचिए सब कुछ ठीक हो जाएगा। इसके बाद दलाई लामा के यह मानते हुए भी कि उन्हें चाउ एन लाइ की बात पर भरोसा नहीं है, नेहरू ने उन्हें आश्वस्त किया कि आपको ल्हासा अवश्य जाना चाहिए और यह भी कि मैं स्वयं आपसे मिलने ल्हासा आऊंगा। (अन्यत्र चीनी लोगों के चरित्र के विषय में दलाई लामा लिखते हैं कि 'झूठ बोलना तो उनके (चीनियों) खून का हिस्सा है।) वैसे ल्हासा आने के लिए दलाई लामा ने ही नेहरू को निमंत्रण दिया था और उन्हें आशा थी कि एक बार यदि नेहरू स्वयं आकर तिब्बत की स्थिति देख लें, तो संभव है कि चीनी सरकार के व्यवहार में परिवर्तन आए, और नहीं तो, नेहरू के मन में तिब्बतियों के प्रति सहानुभूति अवश्य उत्पन्न होगी।

इस प्रकार नेहरू के आश्वासन पर दलाई लामा ल्हासा पहुंच गए। पर वहां जाकर तो उन्होंने देखा कि अब तो स्थिति बद से बदतर हो चुकी है। चारों ओर हिंसा ही हिंसा हो रही है। अब दिन-प्रतिदिन दलाई लामा के सामने चीनी सरकार का असली रूप खुलने लगा। दलाई लामा लिखते हैं कि, 'चीनी नेतृत्व सही अर्थों में मार्क्सवादी नहीं है, जो पूरी दुनिया के लोगों को सुखी जीवन प्रदान करने के लिए समर्पित है, बल्कि यह बड़े प्रबल रूप में राष्ट्रवादी है। सच्चाई यह है कि ये चीनी अंध-देशभक्त तथा संकीर्ण उग्र-राष्ट्रवादी हैं, जो कम्यूनिस्टों के वेश में दुनिया को धोखा दे रहे हैं।' फिर भी दलाई लामा नेहरू की प्रतीक्षा करते रहे। पर चीनियों ने नेहरू की यात्रा ही रद्द करवा दी। इस प्रकार दलाई लामा के लिए आशा की जो अंतिम किरण थी, वह भी जाती रही।

नेहरू को लेकर दलाई लामा लिखते हैं कि, "सबसे बुरी बात यह थी कि हमारे सबसे समीप के पड़ोसी देश तथा धर्म के केंद्र भारत ने चुपचाप तिब्बत पर चीन के दावों को स्वीकार कर लिया था। अप्रैल 1954 में नेहरू जी ने चीन के साथ एक नई चीन-भारत संधि पर हस्ताक्षर किए थे, जिसमें पंचशील नामक एक आचार-संहिता थी, जिसके अनुसार यह तय पाया गया था कि भारत तथा चीन किसी भी परिस्थिति में एक-दूसरे के 'आंतरिक' मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।" (पृष्ठ 110) इस प्रकार जिसे कहते हैं 'आ बैल मार' वाली स्थिति भारत ने स्वयं पैदा की। भारत ने बिना कुछ पाए अपने हाथ कटवा लिए। भारत को किसी भी हालत में यह संधि नहीं करनी चाहिए थी। तिब्बत सदा भारत और चीन के बीच का 'मध्य-स्थित' (बफर) देश रहा था। यहां तक कि अंग्रेजों के समय भी यही स्थिति थी। लेकिन नेहरू की अदूरदर्शिता देखिए कि उन्होंने ऐसी संधि पर हस्ताक्षर किए, जो हमारे लिए मृत्यु के वारंट के समान था। इससे तिब्बत के साथ-साथ हमारा भी अहित भी हुआ।

दलाई लामा नेहरू के विषय में लिखते हैं कि, "माओ की तुलना में उनमें कम आत्मविश्वास प्रतीत होता था, लेकिन उनके व्यवहार में तानाशाही बिल्कुल नहीं थी। वह देखने से ही ईमानदार लगते थे, इसीलिए बाद में चाउ एन लाइ से धोखा खा गए।" (पृष्ठ 123) अब बताइए ऐसी ईमानदारी किस काम की कि आप विदेशी मामलों में धोखा खा गए, जबकि आपके पास विदेश, रक्षा और गृह मंत्रालयों के अतिरिक्त पूरा खुफिया विभाग भी तो था। वास्तव में परम पावन दलाई लामा नेहरू के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग करने बच रहे हैं, क्योंकि स्वयं वही बताते हैं कि एक भारतीय समाचार पत्र ने चाउ एन लाइ को 'च्यु एंड लाइ' (Chew and Lie) अर्थात 'चबाओ और झूठ बोलो' का नाम दिया था। (पृष्ठ वही) इस प्रकार जो बात एक समाचार पत्र को पता थी, उससे देश का प्रधानमंत्री अनभिज्ञ था !

इतना ही नहीं, नेहरू ने जिस प्रकार दलाई लामा को वापस ल्हासा जाने को कहा था उस पर संसद में तीखी बहस छिड़ गई थी और नेहरू कटुआलोचना के शिकार हुए थे। पंचशील के दस्तावेज को लेकर तो आचार्य कृपलानी ने यहां तक कह दिया कि यह "पाप से उत्पन्न हुआ है और एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी सहमति की मुहर लगाने के लिए तैयार" किया गया है। (पृष्ठ 153) इसलिए

सबको सब कुछ पता था। फिर भी नेहरू छले गए। इसे ही कहते हैं कि 'जाने न जाने गुल ही न जाने, बाग तो सारा जाने है।'

उधर तिब्बत में वहां के लोगों को सूली पर चढ़ाना, अंग-अंग काटकर मारना, पेट फाड़कर अंतड़ियां बाहर निकालना, छेद-छेदकर मारना, इत्यादि अत्याचार चरम पर थे। इसी तरह गर्दन उड़ा देना, जलाना, पीट-पीटकर अधमरा करना, जिंदा भट्ठी में झोंक देना, घोड़ों से बांधकर लोगों को घसीटना, जब तक वे मर न जाएं, सूली पर उल्टा लटकाना और बर्फ के पानी में हाथ बांधकर डाल देना आदि सामान्य कार्य थे। इस पीड़ा के बीच लोग 'दलाई लामा' की जय' न बोल सकें, इसलिए उनकी जीभें मांस काटने के नुकीले चाकुओं से निकाल ली जाती थीं। (पृष्ठ 131)

अंततोगत्वा जब दलाई लामा के पास कोई विकल्प नहीं बचा, तो उन्होंने मार्च 1959 में भारत आने का निर्णय लिया। अब चूंकि नेहरू को अपने किए पर संभवतः ग्लानि हो रही थी, इसलिए उन्होंने दलाई लामा को शरण दे दी।

यह प्रकरण तो अब इतिहास का हिस्सा बन चुका है। परंतु इसी में वह बीजतत्व समाहित है, जिससे हम चीन पर विजय प्राप्त कर सकते है। अब हमें अपनी पुरानी नीति त्यागकर खुल्लम-खुल्ला यह कहना चाहिए कि तिब्बत को मुक्त करो क्योंकि उस पर चीन का अवैध कब्जा है। सरकार से कहीं अधिक इस बात का प्रचार प्रबुद्ध लोगों को करना चाहिए। तिब्बत से एक लाख लोग भारत आए थे। इतनी बड़ी संख्या में लोगों द्वारा अपने देश को छोड़ना ही इतना बड़ा प्रमाण है कि चीन बचाव में आ सकता है। हमें इस पर लगातार लिखना, विचार-विमर्श करना और इसे ही टीवी तथा समाचार पत्रों का मुख्य विषय बनाना चाहिए। इसी प्रकार हांगकांग में हो रहे आत्याचार को लेकर मानवाधिकार की बात करनी चाहिए। और इसी तरह ताइवान से भी हमें सहानुभूति जतानी चाहिए। चीन की सरकार तानाशाह है, हमें इसका भी जोर-शोर से प्रचार करना चाहिए। 'हम लोकतांत्रिक हैं इसलिए हम चीन से मानवीय मूल्यों की रक्षा में बहुत आगे हैं' ऐसा हमें बार-बार कहना चाहिए। हमें इस बात का भी प्रचार करना चाहिए कि चीन के लोग दुनिया के सर्वाधिक त्रस्त लोगों में हैं। उनके पास किसी भी तरह की व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं है। चीन खुफिया तंत्र के आधार पर चलता है और तानाशाही शासन अपनी आलोचना करने वालों को ठिकाने लगाता है। हमारे पास लोकतंत्र नामक एक ऐसा शस्त्र है, जिसकी चीन के पास कोई काट नहीं है। वहां के लोगों की खातिर हमें चीन में लोकतंत्र स्थापित करने की मांग भी करनी चाहिए। चीन की वास्तविक स्थिति के बारे में हमें तिब्बतियों से संपर्क साधना चाहिए, जो अभी भी चीन में रह रहे अपने परिजनों से जुड़े हुए हैं।

सांस्कृतिक क्रांति या थियानमेन चौक वाली घटनाओं के दौरान चीन ने जिस बड़े पैमाने पर नरसंहार किया है, इन सबकी हमें पर्याप्त चर्चा करनी चाहिए। इससे चीन का मनोबल गिरेगा। अभी वैसे भी चीन से शायद ही कोई देश सहानुभूति रखता हो ! इसलिए यह और भी आवश्यक है कि हम उस पर जोरदार हमला करें। इसके साथ ही हमें पता है कि चीन की सीमाओं से लगे भारत सहित चौदह देश हैं, जिनसे बचते हुए ही चीन हमसे युद्ध करेगा। इस प्रकार उसकी कठिनाइयां कहीं अधिक हैं। हमें याद रखना चाहिए कि युद्ध केवल सीमा पर ही नहीं होता। यह देश के अंदर भी होता है। इसके साथ ही हमें यह भी याद रखना चाहिए कि चीनी सैनिकों ने पिछले चालीस वर्षों में कभी भी अपने शौर्य या पराक्रम का झंडा नहीं गाड़ा है। वह केवल अपनी अधिक संख्या के कारण भारी-भरकम दिखता है। दूसरी ओर, भारत चीन के साथ के युद्ध के बाद से तीन बार पाकिस्तान को हरा चुका है। इसलिए हमारे सैनिक अधिक अभ्यस्त हैं। वैसे भी पाकिस्तान की कृपा से हम रोज ही युद्ध की स्थिति में रहते हैं।

इसके अलावा चीनी सैनिक इतने साहसी भी नहीं होते। भारत-चीन युद्ध के समय भी ऐसा देखा गया था। दलाई लामा स्वयं एक प्रकरण सुनाते हैं कि एक स्थान पर दो सौ चीनी सैनिक थे जिन पर

तिब्बत के मुश्किल से आठ-दस लड़ाकों ने हमला कर दिया। इस पर चीनी सैनिक इस तरह घबरा गए कि अंधाधुंध गोलियां चलाने लगे। परिणाम यह हुआ कि उन्हीं में से अधिक लोग अपनी ही गोलियों के शिकार हो गए और तिब्बती लड़ाके भागने में भी सफल रहे। ध्यान रहे कि जो जितना अधिक क्रूर और अत्याचारी होता है अंदर से वह उतना ही अधिक कायर होता है। चीनी सैनिकों की एक और समस्या यह है कि उनमें संकल्प का अभाव पाया जाता है। वास्तव में वे भाड़े के सैनिक अधिक होते हैं, न कि अपने देश के लिए मरने-मिटने वाले। दोनों विश्व युद्ध इस बात का प्रमाण है कि लोकतांत्रिक शक्तियां ही विजयी होती हैं।

इसलिए हमें चारों ओर से और हर स्तर पर लड़ाई करनी है, ताकि हम चीन को परास्त कर सकें। अनेक जानकारों का मानना है कि चीन को यदि कोई परास्त कर सकता है, तो वह भारत है और अब हम अपने बीस सैनिकों के बलिदान के बाद चीन को परास्त करना अपना पुनीत कर्तव्य भी समझते हैं। इसलिए जैसा कि प्रसिद्ध कवि चंदवरदाई ने पृथ्वीराज चौहान से कहा था, ‘मत चूको चौहान’, उसी प्रकार कहा जा सकता है कि ‘मत चूको भारत’।

सभी बीस वीरगति प्राप्त योद्धाओं को लेखकीय श्रद्धांजलि !

संदर्भ

1. परम दलाई लामा, “मेरा देश निकाला,” राजपाल प्रकाशन, 2010
2. “Freedom in Exile : The Autobiography of the Dalai Lama” का महेन्द्र कुलश्रेष्ठ द्वारा अनुवाद 21 जून 2020
3. लेखक भारत सरकार के वित्त मंत्रालय में संयुक्त सचिव हैं और इस लेख में व्यक्त विचार व्यक्तिगत हैं।

व्यक्तित्व

भारतीय संस्कृति के विश्वसंचार के अध्येता

✍ डॉ. विवेक भटनागर

लेखक वरिष्ठ पत्रकार औऱ इतिहासविद् हैं।

गुरूकुल कांगड़ी के आश्रम वासी आचार्य, शिक्षक और भारती के वरदपुत्र पंडित चंद्रगुप्त वेदालंकार जी को स्मृति पटल पर अंकित रखने के लिए उनकी एक प्रमुख रचना बृहत्तर भारत ही इतना इतनी अधिक सक्षम है कि किसी और परिचय की आवश्यकता नहीं बचती। उनके गुरु और भारतीय इतिहास मनीषा के परम विद्वान पं. सत्यकेतु विद्यालंकार के सभी गुण और ज्ञान का अपार विस्तार चंद्रगुप्त जी की पुस्तकों स्पष्ट नजर द्रष्टव्य होता है। उनका निरूक्त पर भाष्य हो या हिन्दी भाषा का सही इतिहास किसी भी रूप में बृहत्तर भारत से कम नहीं है। पंडित चंद्रगुप्त वेदालंकार गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षक से कुलपति के पद तक पहुंचे लेकिन उसके साथ रहे सहकर्मियों और विद्यार्थियों कहना है कि उनके समान सहज और ज्ञान का भण्डार उन्होंने कभी नहीं देखा। उनके विद्यार्थी रहे डॉ. ललित पाण्डे का कहना है कि पंडित जी और इतिहास का ज्ञान इतना विस्तार लिए हुए था कि वे इतिहास के विश्वकोष के समान प्रतीत होते थे। उनसे किसी भी विषय पर वार्ता की जा सकती थी। फिर भी भारत के सांस्कृतिक विस्तार का जिस प्रकार उन्होंने ने वृहत्तर भारत में चित्रित किया वह स्वयंमेव अनुपम है।

चंद्रगुप्त वेदालंकार जी का जन्म वर्ष 1895 में गोविंदगढ़, पंजाब के एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। वर्ष 1937 में उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी से हिन्दी और संस्कृत माध्यम से स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की और उन्हें वेदालंकार की उपाधि दी गई। विद्यार्थी जीवन से ही वे एक ओजस्वी वक्ता और अच्छे लेखक रहे। इसके बाद वे गुरुकुल कांगड़ी में ही प्राध्यापक नियुक्त हो गए। वहाँ रहते हुए ही उन्होंने बृहत्तर भारत नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा। वर्ष 1939 में उन्हें पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर की प्राचीन ग्रंथों की अनुसंधान समिति का सदस्य नियुक्त किया गया। वर्ष 1940 में वे भाई परमानंद, वीर सावरकर और पंडित श्यामाप्रसाद मुखर्जी आदि के साथ मिल कर देश के स्वाधीनता संग्राम में सहभागिता की। इस कारण उन्हें कई बार जेलयात्रा भी करनी पड़ी। एक दुर्घटना में उनकी अकाल मृत्यु हुई।

भारतीय संस्कृति के विश्वसंचार पर उनका विशेष काम था। इसकी झलक उनकी सभी पुस्तकों में दिखाई पड़ती है। अपने निरुक्त भाष्य में चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने लिखा है कि प्रायः दक्षिण पूर्व एषिया के सभी द्वीपों में प्राप्त अगस्त्य ऋषि की प्रतिमाएं, भारत में प्रसिद्ध उनके समुद्रपान तथा दक्षिण दिशा में जाकर बसने की समस्या का सुन्दर समाधान कर रही हैं। भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया के प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों को प्रगाढ़ करने में कौण्डिन्य तथा अगस्त्य का विशेष योगदान है जिससे भारतीय संस्कृति को वैश्विक प्रसार मिला।

बृहत्तर भारत में उन्होंने भारत की बृहत्तर सांस्कृतिक सीमाओं का अद्भुत दर्शन कराया है। वे लिखते हैं - सम्राट अशोक के बाद सम्राट कनिष्क के शिलालेख अफगानिस्तान में मिलते हैं जिनका सम्राज्य गांधार से तुर्किस्तान तक था और जिसकी राजधानी पेशावर थी। सम्राट कनिष्क के शिव, विष्णु, बुद्ध के साथ जरथुस्त्र और यवन देवी-देवताओं के सिक्के भी मिलते हैं। (पृष्ठ 26-28) अजन्ता की गुफाओं में बने चित्रों में सम्राट पुलकेशिन द्वितीय की सभा में पारसिक नरेश खुसरू द्वितीय और उनकी पत्नी शीरीं दर्शाए हैं। (पृष्ठ 238) इतिहासकार तबारी ने 9वीं शताब्दी में भारतीय नरेश के फिलिस्तीन पर आक्रमण का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि बसरा के शासक को सदैव तैयार रहना पड़ता है चूंकि भारतीय सैन्य कभी भी चढ़ आता है। यही कारण है अब सिन्धु विजय के पश्चात अरबों को भारत से दूर रहना पड़ा। (पृष्ठ 639)

7वीं शताब्दी के मध्य में तुर्क मुसलमानों की सेना ने बल्ख पर आक्रमण किया। वहां के प्रमुख नौबहार मंदिर को जिसमें वैदिक यज्ञ होते थे, को मस्जिद में बदल दिया। यहाँ के पुजारियों को बरमका {ब्राह्मक या ब्राह्मण का अपभ्रंश} कहा जाता था। इन्हें मुसलमान बनाया और बगदाद ले गये। वहां के खलीफा ने इनसे भारतीय चिकित्सा शास्त्र, साहित्य, ज्योतिष, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि का अनुवाद करने को कहा। इसी क्रम में अहंब्रह्मास्मि से अनल हक आया। भारतीय अंकों के हिन्दसे बने, जिन्हें बाद में योरोप के लोग अरब से आया मान कर अरैबिक कहने लगे। पंचतन्त्र के कर्कट-दमनक से कलीला-दमना बना। आर्यभट्ट की पुस्तक आर्यभटीयम का अनुवाद अरजबंद, अरजबहर नाम से हुआ। (पृष्ठ संख्या 167-172)

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि पंडित चंद्रगुप्त वेदालंकार ने भारतीय संस्कृति की विश्वव्याप्ति को लेकर काफी शोधपरक काम किया था। पुस्तकों के लेखक आम तौर पर अपनी किताब अपने माता-पिता, बच्चो को, पत्नी अथवा गुरू को समर्पित करते हैं। लेकिन वेदालंकार जी ने बृहत्तर भारत ''आत्मत्याग की जिन प्रतिभाओं ने सह-सह कर कष्ट अपार, देश-देश में सत्य अहिंसा सेवाव्रत का किया प्रसार।'' उन्हीं अमर संदेशवाहकों को समर्पित की। यह पुस्तक आपके सामने एक नई दुनिया खोलती है। इसे पढ़ते हुए आप बार-बार उन कॉमरेड इतिहासकारों को याद करते हुए -जिनकी लिखी हुई पुस्तकें पाठ्क्रम में पढ़ते हुए आप और मैं बड़े हुए- उन्हें कोसने जैसा कुछ करते हैं कि उन्होंने इतना सबकुछ हमसे छुपा लिया क्योंकि उनका मकसद भारतीय परंपरा और संस्कृति से हमारा परिचय कराना नहीं था बल्कि वे एक खास विचारधारा से प्रेरित ज्ञान हम तक पहुंचा रहे थे।

संदर्भ

1. वृहत्तर भारत - पं. चंद्रगुप्त वेदालंकार
2. निरुक्त भाष्य- पं. चंद्रगुप्त वेदालंकार
3. हिंदी साहित्य का सही इतिहास - पं. चंद्रगुप्त वेदालंकार

एनसीईआरटी समीक्षा

भारतकेंद्रित विश्वदृष्टि का अभाव

✍ रवि शंकर

लेखक वरिष्ठ पत्रकार, इतिहासविद और सभ्यता अध्ययन केंद्र के निदेशक हैं।

एनसीईआरटी कक्षा नौ से विद्यार्थियों को विश्वइतिहास की जानकारी देना प्रारंभ करती है। कक्षा नौ से पहले एनसीईआरटी विद्यार्थियों को सामान्यतः भारत के इतिहास के बारे में ही पढ़ा रही होती है। इस अंक में एनसीईआरटी की कक्षा नौ की इतिहास की पुस्तक और उसमें प्रस्तुत उसकी विश्वदृष्टि की समीक्षा करेंगे।

सबसे पहले हमें यह जानना चाहिए कि स्वयं एनसीईआरटी अपनी इस पुस्तक के बारे में क्या कहती है। पुस्तक की भूमिका में नीलाद्री भट्टाचार्य लिखते हैं, "कक्षा IX और X की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों का मुख्य ज़ोर यही समझने पर है कि समकालीन विश्व कैसे बना है। पिछली कक्षाओं (VI-VIII) में आपने भारत के इतिहास के बारे में पढ़ा है। अगले दो सालों (कक्षा IX और X) की इतिहास की पुस्तकों में आप यह जानेंगे कि किस तरह भारत के अतीत की कहानी दुनिया के लंबे इतिहास से जुड़ी हुई है। जब तक हम इस संबंध पर विचार नहीं करेंगे तब तक इस बात को अच्छी तरह नहीं समझ पाएँगे कि भारत में क्या और कैसे हो रहा था। यह बात इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि आज तमाम अर्थव्यवस्थाएँ और समाज दिनोंदिन गहरे तौर पर एक-दूसरे से जुड़ते जा रहे हैं। इतिहास को हमेशा भौगोलिक सीमाओं में बंद करके नहीं देखा जा सकता।

"अब तक आधुनिक विश्व का इतिहास अकसर पश्चिमी दुनिया के इतिहास पर आश्रित रहा है। मानो सारे परिवर्तन और सारी तरक्की सिर्फ पश्चिम में ही होती रही हो। मानो बाकी देशों के इतिहास एक समय के बाद ठहर कर रह गए हों, गतिहीन और जड़ हो गए हों। इस इतिहास में पश्चिम के लोग उद्यमशील, रचनात्मक, वैज्ञानिक मेधायुक्त, मेहनती, कुशल और बदलाव के लिए तत्पर दिखाई पड़ते हैं। दूसरी तरफ़ पूर्वी समाज - या अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका - के लोगों को परंपरानिष्ठ, आलसी, अंधविश्वासी, और बदलावों से कन्नी काटने वाला दिखाया जाता है।"

"इतिहासकार बहुत सालों से इन स्थापनाओं पर सवाल खड़ा करते आ रहे हैं। अब हम अच्छी तरह जान चुके हैं कि हरेक समाज में परिवर्तन का अपना इतिहास होता है। इसीलिए आधुनिक विश्व की रचना को समझने के लिए हमें इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा कि विभिन्न समाजों ने इन बदलावों को किस तरह अनुभव किया और उन्हें कैसे शक्ल दी है। हमें देखना पड़ेगा कि अलग-अलग देशों के इतिहास किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़ रहे हैं। कैसे एक समाज में हुए बदलावों का असर दूसरे समाज में देखा जा सकता है; कैसे भारत व अन्य उपनिवेशों की घटनाओं ने यूरोप को प्रभावित किया। आशय यह कि समकालीन विश्व का रूप-स्वरूप सिर्फ पश्चिम से तय नहीं हुआ है।"[1]

इस पूरे उद्धरण में इतिहासदृष्टि के नाम पर दो बातें कही गई हैं। पहली यह कि भारत के अतीत की कहानी दुनिया के लंबे इतिहास से जुड़ी हुई है। दूसरी बात यह कि आधुनिक विश्व का इतिहास हमेशा पश्चिमी दुनिया के इतिहास पर आश्रित दिखलाया जाता है जोकि पूरी तरह गलत है। परंतु इस स्थापना के बाद भी हम आगे पुस्तक में देखेंगे कि इसमें इन दोनों ही स्थापनाओं के विरुद्ध ही लिखा गया है। इसके अध्यायों की संरचना इस मूल स्थापना के विरुद्ध है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कक्षा छह से लेकर अभी तक भारत के वैश्विक संपर्कों के इतिहास के बारे में कुछ भी नहीं पढ़ाया गया है। यह पहली पुस्तक है जो बच्चों को भारत और समकालीन विश्व की जानकारी दे रही है। परंतु इसका पहला अध्याय फ्रांस की राज्य क्रांति से प्रारंभ हो रहा है। दूसरा और तीसरा अध्याय समाजवाद और रूसी क्रांति तथा नात्सीवाद और हिटलर पर है। ऐसा क्यों है? इसमें भारत के विश्व के अन्यान्य देशों विशेषकर चीन, तिब्बत, खोतान, मलेशिया, इंडोनेशिया, कंबोडिया, वियतनाम, थाईलैंड, अफ्रीका, अरब और यूरोप के साथ के संबंधों को प्रारंभ से बताने का कोई प्रयास नहीं किया गया है, जबकि भूमिका में कहा यह गया था कि इसमें यह बताया जाएगा कि भारत के अतीत की कहानी किस प्रकार दुनिया के लंबे इतिहास से जुड़ी हुई रही है। क्या इसका यह कारण है कि फ्रांस की राज्यक्रांति से पहले यूरोप के इतिहास को भारत से जोड़ने पर भारत का गौरव सामने आता है और यूरोप की हीनता प्रकट होती है?

हैरानी की बात यह भी है कि यह कहने के बाद भी कि आधुनिक विश्व के इतिहास को पश्चिम पर आश्रित दिखाया जाना गलत है, इसके अध्यायों की संरचना उसी आधार पर की गई है। इन अध्यायों में केवल पश्चिम के कुछेक देशों जोकि देखा जाए तो भारत के एक सामान्य राज्य से भी छोटे ही थे, में चले आंदोलनों को ही पढ़ाया जा रहा है। यह पुस्तक चीन के बारे में कुछ नहीं कहती, अफ्रीका के बारे में कुछ नहीं कहती, अमेरिका के बारे में मौन है, जापान के विषय में कुछ नहीं बताती। फिर यह पश्चिम के आश्रय पर इतिहास नहीं लिखने का दावा कैसे कर रही है? इन अध्यायों में यह भी कहीं भी वर्णित नहीं है कि आखिर पश्चिम में ये जो परिवर्तन हो रहे थे, इनमें भारत जैसे देशों की क्या भूमिका थी? आखिर फ्रांस में राज्य क्रांति 18वीं शताब्दी में ही क्यों संभव हुई? उससे पहले यानी 12-17वीं शताब्दी के पाँच सौ वर्षों में उनकी क्या स्थिति थी? और जब हम अतीत की बात करते हैं तो केवल 2-3 सौ वर्ष पहले की बात नहीं करते। अतीत तो आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार भी लगभग दो हजार वर्षों का है। तो यह पुस्तक पिछले 17-18 सौ वर्षों के भारत और विश्व के संबंधों पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालती है। यह हम आगे देखेंगे कि इन अध्यायों में भी जो पढ़ाया जा रहा है, उसमें भारत के साथ के संबंधों की कहीं भी कोई चर्चा नहीं है, उलटे भारत पर उनके कारण क्या प्रभाव पड़ा, केवल यही पढ़ाने की कुचेष्टा की जा रही है।

वस्तुस्थिति यह है कि यूरोप का समग्र विकास भारत से संपर्क आने के बाद ही हुआ है। आश्चर्यजनक रूप से पुस्तक इस बारे में मौन है। उसमें यह चर्चा तक नहीं है कि किस प्रकार पूरे यूरोप में भारत की चर्चा एक सपने की तरह की जाती रही है। उदाहरण के लिए, अर्ली ट्रैवेल्स इन इंडिया नामक पुस्तक की प्रस्तावना में जे. टैलबॉयज व्हीलर लिखते हैं, "उस काल से शताब्दियों पहले से भारत कल्पनाओं का देश रहा है, परंतु कल्पनाओं से परे सच का जब भी वर्णन किया गया, वह भी मध्य युग के निरर्थक वर्णनों से कहीं अधिक शानदार था। सर जॉन मैंडेविले और अन्य लोगों द्वारा वर्णित दो सिर वाले लोगों का प्रदेश, जिसे आज हम उड़ीसा और मौसूलीपट्टम के नाम से जानते हैं, अभी तक पूरी तरह चर्चा से बाहर नहीं हुआ है, जबकि भारतीय राजाओं की विचित्र कथाएं इंग्लैंड के लोगों के लिए घरेलू शब्दों की तरह परिचित हैं। ब्लू वेयर्ड्स की बच्चों की कहानियां, हमारा मानना है कि, दक्कन के हिंदू राजा की कहानी से प्रभावित है; जबकि कैम्बे के राजा की कहानी जिसे जहरमिश्रित भोजन ही दिया जाता था और जिसकी सांस तक इतनी जहरीली हो गई थी कि प्रत्येक रात को उसकी रानी मर जाया

करती थी और हर सुबह उसे एक नई शादी करनी होती थी, एक ऐसी कहानी है जो अभी तक सुरक्षित चली आ रही है, जिसे हम आज पंद्रहवीं शताब्दी में गुजरात में हुए एक राजा महमूद बेगारा के नाम से पहचानते हैं। भारत के सामाजिक जीवन की कहानियां जो कि कहीं अधिक सच्ची थीं, और भी अधिक आकर्षित करने वाली थीं। रानी एलीजाबेथ के पुराने मंत्रियों की कब्रें संभवतः उन बेचारी विधवाओं के वर्णनों को जान कर सिहर उठा करती रही होंगी, जो स्वयं को अपने मृत पति के साथ जला दिया करती थीं। दूसरी ओर सम्मानित दासियां भी, अपनी इच्छानुसार अनेक पुरुषों से विवाह करने वाली और उन्हें अपने नियंत्रण में रखने वाली मालाबार की औरतों की शर्मनाक कहानियों पर छिप कर खिलखिलाया करती थीं, परंतु भारत के बारे में सबसे बड़ा आकर्षण उसके धन का वर्णन हुआ करता था और भारत जाने वाला हरेक यात्री यहाँ के वैभव, सोने, चाँदी, गहनों, रेशमी तथा सूती वस्त्रों, राजमहलों आदि का वर्णन लेकर आता था। इससे लंदन के सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति को भी ईर्ष्या हो जाया करती थी और उन्हें इन धनी मूर्तिपूजकों के साथ व्यापार करने की इच्छा होने लगती थी।"[2]

यह एक उद्धरण यह बताने के लिए पर्याप्त है कि यूरोप के मनोमस्तिष्क पर भारत किस प्रकार छाया रहा है। ग्रीक तथा रोमन दोनों ही साम्राज्यों पर भारत का काफी सुस्पष्ट प्रभाव रहा है। भारतीय व्यापारियों की कथाएं वहाँ अद्भुत रूप से प्रचलित रही हैं। उनके मानस पर भारत का प्रभाव दो बातों से स्पष्ट होता है। पहली बात यह है कि हेरोडोटस से लेकर प्लीनी और पेरिप्लस तक सभी लोग भारत का वर्णन करने के लिए अतिशय उत्सुक हैं। मेगास्थनीज, एरायन, टसायस जैसे लोग इंडिका नामक ग्रंथ लिखते हैं, जिनमें से केवल मेगास्थनीज का दावा है कि वह भारत आया है, शेष ने भारत के दर्शन भी नहीं किए, पर उस पर उनके ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। नौवीं शताब्दी में एक ईसाई मॉन्क को भारतयात्री तक की संज्ञा दे दी गई, जबकि वह कभी भारत नहीं आया। लंबे समय तक यूरोप के लिए भारत की गैरयूरोपीय विश्व रहा है। यूरोप से पूरब का समस्त भाग उनके लिए इंडिया यानी कि भारत ही था। हालाँकि इंडिया शब्द भारत के अलावा किसी और देश के लिए कभी भी प्रयुक्त नहीं हुआ, परंतु यूरोप में इंडिया और ईस्ट यानी कि पूरब लगभग पर्यायवाची की तरह प्रयोग किए जाते रहे हैं। भारत और पूरब यूरोप के लिए पूरा विश्व थे। उन्हें यूरोप से बाहर के विश्व की जितनी जानकारी थी, वह पूरब की ओर के कुछेक स्थानों की ही थी। इसे स्पष्ट करते हुए पोम्पा बनर्जी लिखती हैं, "यहाँ मैं पूरब का संदर्भ एक सामान्य परिप्रेक्ष्य में ले रही हूँ। जैसा कि मैं बता चुकी हूँ कि आधुनिक काल के प्रारंभ की चर्चाओं में भारत का अर्थ एक विशाल अपरिभाषित क्षेत्र हुआ करता था, जिसका प्रयोग यूरोप के बाहर के सभी क्षेत्र के लिए किया जाता था।"[3] इन उद्धरणों से समकालीन विश्व पर भारत के प्रभाव को ठीक से समझा जा सकता है।

पुस्तक के अध्यायों की संरचना देखी जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चों को इतिहास नहीं, कुछेक विचारधाराओं के बारे में पढ़ाया जा रहा है। खंड एक : घटनाएं और प्रक्रियाएं में में तीन अध्याय हैं। 1. फ्रांसीसी क्रांति, 2. यूरोप में समाजवाद एवं रूसी क्रांति और 3. नात्सीवाद और हिटलर का उदय। ये तीनों अध्याय केवल और केवल यूरोप में पिछले दो सौ वर्षों में पैदा हुई विचारधाराओं के बारे में जानकारी देते हैं। इन विचारधाराओं के भारत के आधुनिक मानस पर पड़े प्रभावों को स्पष्ट करने के लिए ही इन अध्यायों की रचना की गई दिखती है। उदाहरण के लिए दूसरे अध्याय के प्रारंभ में लेखक लिखते हैं, "भारत में भी राजा राममोहन रॉय और डेरोजियो ने फ्रांसीसी क्रांति के महत्त्व का उल्लेख किया। और भी बहुत सारे लोग क्रांति पश्चात यूरोप की स्थितियों के बारे में चल रही बहस में कूद पड़े।"[4] यह एक प्रकार का अतिरेकी वर्णन ही है। राजा राममोहन रॉय, देश की मुख्यधारा को अभिव्यक्त नहीं करते थे। वे भारत को ही अभिव्यक्त नहीं करते थे। वे अंग्रेजी पढ़े-लिखे प्रत्यक्ष और छद्म ईसाई समाज को ही अभिव्यक्त करते थे। उस काल में भारत की राजनीतिक चर्चाओं में फ्रांसीसी क्रांति को शामिल करना केवल और केवल यूरोपीयों और उनके अनुयायियों का ही काम था, विशुद्ध

भारतीयों का नहीं। हैरत की बात यह भी है कि पूरी पुस्तक भारत के लिए पूर्णतः विदेशी शब्दावलियों में ही संवाद करती है। रूढ़िवादी, उदारवादी, आमूल परिवर्तनवादी, जैसे शब्द यूरोपीय संदर्भों में प्रयुक्त किये गए, हैं, भारतीय संदर्भों में नहीं। वस्तुतः यूरोपीय शब्द कन्जर्वेटिव को रूढ़िवादी कहना सही नहीं है। इन शब्द प्रयोगों से यह भी प्रतीत होता है कि लेखकों को भारतीय परंपराओं और शब्दावलियों का सटीक ज्ञान ही नहीं है। यूरोपीय परंपरा में राजनीतिक संदर्भों में कन्जर्वेटिव के लिए अधिक सटीक शब्द यथास्थितिवादी होगा। उसी प्रकार लिबरल शब्द का अनुवाद उदारवादी, गलत है। इसका सही अनुवाद होगा, परिवर्तनवादी। और रैडिकल का सही अर्थ है हिंसावादी। इन शब्दों के गलत अनुवाद से भारतीय परंपरा में रचे-बसे बच्चों के मानस पर उन यूरोपीय विक्षोभों का गलत चित्र बनता है। उदाहरण के लिए पुस्तक उदारवादियों के बारे में बताते हुए लिखा है, "समाज परिवर्तन के समर्थकों में एक समूह उदारवादियों का था। उदारवादी ऐसा राष्ट्र चाहते थे जिसमें सभी धर्मों को बराबर का सम्मान और जगह मिले। शायद आप जानते होंगे कि उस समय यूरोप के देशों में प्रायः किसी एक धर्म को ही ज़्यादा महत्व दिया जाता था (ब्रिटेन की सरकार चर्च ऑफ़ इंग्लैंड का समर्थन करती थी, ऑस्ट्रिया और स्पेन, कैथलिक चर्च के समर्थक थे)। उदारवादी समूह वंश-आधारित शासकों की अनियंत्रित सत्ता के भी विरोधी थे। वे सरकार के समक्ष व्यक्ति मात्र के अधिकारों की रक्षा के पक्षधर थे। उनका कहना था कि सरकार को किसी के अधिकारों का हनन करने या उन्हें छीनने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। यह समूह प्रतिनिधित्व पर आधारित एक ऐसी निर्वाचित सरकार के पक्ष में था जो शासकों और अफ़सरों के प्रभाव से मुक्त और सुप्रशिक्षित न्यायपालिका द्वारा स्थापित किए गए कानूनों के अनुसार शासन-कार्य चलाए। पर यह समूह 'लोकतंत्रवादी' (Democrat) नहीं था। ये लोग सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार यानी सभी नागरिकों को वोट का अधिकार देने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि वोट का अधिकार केवल संपत्तिधारियों को ही मिलना चाहिए।"[5] बहुत ही आश्चर्यजनक रूप से यह इस उद्धरण में यह बात छिपा ली गई है कि सभी धर्मों का अर्थ वहाँ केवल ईसाइयत के सभी उपपंथों से लिया गया है। यूरोप के फ्रांस, इंग्लैंड आदि देशों में धर्म के नाम पर केवल एक ईसाई रिलीजियन था। ईसाई रिलीजियन को धर्म लिखना भी एक प्रकार का बौद्धिक छल ही है। इसकी तुलना हम भारत से कर सकते हैं, जहाँ इस यूरोपीय लिबरल आंदोलन के काफी पहले से मुसलमानों, यहूदियों और ईसाई जैसे सेमेटिक रिलीजियनों को भी समान आदर के साथ रखा गया था। उस काल में मजहब और रिलीजियन का आधार लेकर हिंसा और संघर्ष केवल मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से ही प्रारंभ किया गया था, भारत के हिंदू राजाओं की ओर से नहीं। हिंदू राजाओं में प्रारंभ से ही सभी मत-पंथों के प्रति समान आदर और सम्मान रखने ही नहीं, बल्कि सभी को बढ़ाने के प्रयास भी दिखते हैं। इसके उदाहरण के रूप में बच्चों को सम्राट ललितादित्य के बारे में बताया जा सकता है जो स्वयं वैष्णव होते हुए भी सूर्य का मार्तंड मंदिर बनवाते हैं और शैव आचार्य को मध्य भारत से लाकर कश्मीर में बैठाते हैं ताकि शैव मत का वहाँ विकास हो सके। यह तुलना यूरोप पर भारत के बढ़ते प्रभाव को स्पष्ट करती। यूरोप में चल रहे इन सभी आंदोलनों की पृष्ठभूमि में भारत के समाज के उन वर्णनों का बड़ा प्रभाव था, जो 16वीं से लेकर 18वीं शताब्दी तक के यूरोपीय विशद रूप में कर रहे थे।

इसके बाद पुस्तक में औद्योगीकरण और सामाजिक परिवर्तन के बारे में बताया गया है। यूरोप में जो मशीनीकरण प्रारंभ हुआ, उसे औद्योगीकरण कहना भ्रम पैदा करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे इससे पहले विश्व में और कहीं उद्योग हुआ ही नहीं करते थे। जिसे यूरोप का औद्योगीकरण कहा जा रहा है, प्रारंभ में उसमें मुख्य उत्पाद तो वस्त्र ही थे। वस्त्र उद्योग तो भारत में शताब्दियों से चलता रहा है। फिर यूरोप में उसी वस्त्र उद्योग के प्रारंभ को औद्योगीकरण क्यों कहना चाहिए? यूरोप ने जो वस्त्र उद्योग लगाए और बाद में जो भी अन्य उद्योग स्थापित किए, वे सभी मशीनों पर आधारित थे और उनमें मानव

श्रम का बहुत ही न्यून मूल्य था, इसलिए वहाँ अत्यधिक शोषण था। परंतु भारत में ऐसी स्थिति नहीं थी। वैश्विक संदर्भ में यह बात बच्चों को बताई और पढ़ाई जानी चाहिए। इसी प्रकार व्यापार में भारतीयों का वर्चस्व पूरे मध्य तथा उत्तर एशिया में था। यह तथ्य भी पुस्तक से पूरी तरह गायब है। रूसी क्रांति पढ़ाते समय यह तथ्य उपेक्षित है कि रूस में भारतीय व्यापारियों की भरपूर आवाजाही थी। उनके कारण रूस से भी अफनासी नीकितिन जैसे व्यापारी भारत आने लगे थे। इतिहास केवल राजनीतिक हलचलों का ही तो नहीं होता। इतिहास तो आर्थिक गतिविधियों और उनके प्रभावों का भी होता है। एनसीईआरटी के लेखकों ने संभवतः यह मान लिया है कि यूरोप में उस काल जो भी घटनाएं घटीं, वे विश्व से निरपेक्ष वहाँ की स्वाभाविक घटनाएं थीं। परंतु वस्तुतः ऐसा है नहीं। यूरोपीय तो पिछले हजार वर्ष से अंधकार युग में जी रहे थे। कम से कम यह तो बच्चों को बताया ही जाना चाहिए था कि यूरोप का अंधकार युग क्या था और क्यों था। उस अंधकार युग के समाप्त होने में भारत की भूमिका क्या रही है? आखिर पुस्तक के शीर्षक 'भारत और समकालीन विश्व' की सार्थकता तो इससे ही साबित होती। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि लेखकों का उद्देश्य समकालीन विश्व पर भारत के प्रभाव को दिखलाना है ही नहीं, उनका उद्देश्य है भारत पर यूरोपीय प्रभाव को स्थापित करना। और भारत में यूरोपीय प्रभाव तो अंग्रेजी शिक्षा के लागू होने के बाद ही प्रारंभ हुआ। इसलिए उन्होंने पुस्तक का प्रारंभ फ्रांस की राज्य क्रांति से किया।

पुस्तक में किए गए वर्णनों से यह भी प्रतीत होता है कि यह प्रकारांतर से बच्चों के मन में विचारधारा विशेष को हीन और श्रेष्ठ के रूप में स्थापित करने का भी काम करती है। यूरोपीय शब्दावलियों को समझाते समय उन विशेष शब्दावलियों को भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत ही नहीं किया गया है, इससे उन शब्दावलियों की एक मिथ्या और भ्रमोत्पादक संकल्पना बच्चों के मन में पैदा होगी। उदाहरण के लिए समाजवाद को समझाते हुए पुस्तक में कहा गया है, "समाज के पुनर्गठन की संभवतः सबसे दूरगामी दृष्टि प्रदान करने वाली विचारधारा समाजवाद ही थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यूरोप में समाजवाद एक जाना-पहचाना विचार था। उसकी तरफ़ बहुत सारे लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा था।

समाजवादी निजी संपत्ति के विरोधी थे। यानी, वे संपत्ति पर निजी स्वामित्व को सही नहीं मानते थे। उनका कहना था कि संपत्ति के निजी स्वामित्व की व्यवस्था ही सारी समस्याओं की जड़ है। वे ऐसा क्यों मानते थे? उनका तर्क था कि बहुत सारे लोगों के पास संपत्ति तो है जिससे दूसरों को रोज़गार भी मिलता है लेकिन समस्या यह है कि संपत्तिधारी व्यक्ति को सिर्फ अपने फ़ायदे से ही मतलब रहता है; वह उनके बारे में नहीं सोचता जो उसकी संपत्ति को उत्पादनशील बनाते हैं। इसलिए, अगर संपत्ति पर किसी एक व्यक्ति के बजाय पूरे समाज का नियंत्रण हो तो साझा सामाजिक हितों पर ज़्यादा अच्छी तरह ध्यान दिया जा सकता है। समाजवादी इस तरह का बदलाव चाहते थे और इसके लिए उन्होंने बड़े पैमाने पर अभियान चलाया।"[6]

इस उद्धरण में पुस्तक जबरन समाजवाद को एक श्रेष्ठ विचारधारा साबित करने का प्रयास कर रही है। यूरोपीय पृष्ठभूमि में उसकी उत्पत्ति का वर्णन, उसके गुण-दोषों का विवेचन, भारतीय परिस्थितियों से उसकी तुलना आदि नहीं किया जा रहा है। केवल उसे एक श्रेष्ठ विचार के रूप में चित्रित किया जा रहा है। उदाहरण के लिए भारत में संपत्तिधारी व्यक्ति समाज के हित का पूरा ध्यान रखा करते थे। एक किसान अपने उत्पाद में से गाँव के नाई, मोची, कुम्हार, बढ़ई, पुरोहित, शिक्षक आदि सभी के लिए हिस्से रखा करता था। अधिक धनवान लोग प्याऊ, कुँएं, तालाब आदि बनवाते थे, और अधिक धनवान लोग तीर्थस्थानों में धर्मशालाएं आदि बनवाया करते थे, जहाँ सभी लोग निःशुल्क रह सकते थे। इस सामाजिक व्यवस्था में समाजवाद एक हास्यास्पद और निरर्थक विचार साबित होगा। परंतु केवल यूरोपीय संदर्भों को सामने रखने से वह अति उच्च विचार लगेगा। यूरोप में ऐसा अवश्य हो रहा था कि संपत्तिधारी केवल अपने स्वार्थ के बारे में सोचता था। वहाँ के लिए वह विचार ठीक था। इतिहास

से यदि हम ठीक समझ नहीं बना पाएं तो उस इतिहास को पढ़ने का लाभ क्या होगा? समाजवाद को श्रेष्ठ विचार मान कर आगे के पूरे घटनाक्रम का एक मिथ्या चित्रण पुस्तक में किया गया है। रूस की निरंकुश जारशाही को हटाकर जो समाजवादी निरंकुशता स्थापित की गई थी, उसमें करोड़ों लोग मारे गए थे। पुस्तक बताती है कि समाजवादी उत्पातों के प्रारंभ होने से पहले वहाँ के कारखानों में हड़तालें भी हुआ करती थीं। वहाँ लिखा है, "इन विभेदों के बावजूद, जब किसी को नौकरी से निकाल दिया जाता था या उन्हें मालिकों से कोई शिकायत होती थी तो मज़दूर एकजुट होकर हड़ताल भी कर देते थे। 1896-1897 के बीच कपड़ा उद्योग में और 1902 में धातु उद्योग में ऐसी हड़तालें काफ़ी बड़ी संख्या में आयोजित की गईं।"[7] परंतु पुस्तक यह नहीं बताती है कि समाजवादी मजदूरों को मिली इस छूट का लाभ लेकर शासन के विरुद्ध संघर्ष खड़ा कर रहे थे। यह सत्ता के लिए लड़ी गई एक राजनीतिक लड़ाई मात्र थी, कोई सामाजिक क्रांति नहीं। आखिर रूसी क्रांति के बाद भी मजदूरों को हड़ताल करने का अधिकार नहीं था। सोवियत ट्रेड यूनियन के अलावा और कोई यूनियन नहीं बन सकती थी। सच्चाई तो यह है कि रूसी क्रांति के बाद रूस में जार से भी अधिक निरंकुश, हिंसक, अमानवीय और क्रूर सत्ता स्थापित हुई, जिसे समाजवाद नामक एक मीठे आवरण में ढंका गया था।

बहरहाल, भारत और समकालीन विश्व के शीर्षक के अनुसार इसके तीनों अध्याय पूरी तरह अनुपयोगी और निरर्थक हैं। इसका प्रारंभ संजीव सान्याल के इस प्रश्न और उत्तर से किया जाना चाहिए था, "यदि आपको विश्व के नक्शे पर भारत दिखाने के लिए कहे, तो संभवतः आप इसे एक झटके में कर सकते हैं। वहाँ यह है, आप इंगित करेंगे हिंद महासागर में स्थित एक विशाल स्थल को जिसके नीचे एक अश्रुबूंद की भांति श्रीलंका दिखता है। यह चित्र काफी परिचित है। परंतु यदि आपको बताया जाए कि भारतीय उपमहाद्वीप हमेशा यहीं स्थित नहीं था, बल्कि यह अफ्रीका और मेडागास्कर से जुड़ा था तो आपको कैसा लगेगा?"[8] विभिन्न कालखंडों में विश्व के नक्शे पर भारत को दिखाने से इस अध्याय का प्रारंभ किया जाना चाहिए। फिर हम यह बता सकते हैं कि भारत का अर्थ केवल इसका आज का नक्शा नहीं होता। भारत के नक्शे से ही आज के लगभग 11-12 देशों का निर्माण हुआ है। यानी ये सभी वर्तमान देश कभी न कभी भारत राष्ट्र के ही हिस्से थे। इसके बाद भारत के चीन, मंगोलिया, दक्षिण-पूर्वी एशियायी देशों आदि पर प्रभाव के बारे में पढ़ाया जाना चाहिए। इसके बाद दूसरे अध्याय में ग्रीस, मिश्र और रोम के साथ भारत के व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंधों को बताया जाना चाहिए था। तीसरे अध्याय में 15वीं शताब्दी के बाद के यूरोप के साथ भारत के संबंधों के बारे में बताया जाना चाहिए। उसमें फ्रांसीसी और रूसी क्रांति से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात यूरोप में हुई ज्ञान क्रांति के बारे में पढ़ाया जाना चाहिए। कैसे भारत से गणित और ज्योतिष जैसी विद्याएं यूरोप पहुँची और उसके कारण वहाँ ज्ञान क्रांति हुई। बाद में चिकित्सा विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि विधाएं भी यूरोप पहुँचीं। ज्ञान क्रांति के बाद इन राजनीतिक उथल पुथलों और उन पर भारतीय प्रभावों को पढ़ाया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए राजनीति में स्त्रियों की भूमिका यूरोपियों ने सबसे पहले भारत में ही देखा था। वे हैरान थे कि स्त्रियां भी यहाँ शासन करती थीं। फिर भी यूरोप में स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार मिलने में चार सौ वर्ष से अधिक लगे। 18वीं शताब्दी में जब फ्रांस में क्रांति हो रही थी, उस समय फ्रांस राज्य भारत की तुलना में कैसा दिखता है, यह नक्शे में दिखाया जाना चाहिए, इससे सामाजिक परिस्थितियों की सही समझ उत्पन्न होती है।

पुनर्पाठ

चीन की संस्कृति

✍ अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

लेखक हिंदी के प्रसिद्ध संपादक तथा लेखक रहे हैं। श्री वाजपेयी कलकत्ता के 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' पत्रों के 1911 से 1919 ई. सम्पादक रहे। इसके बाद 1920 से 1930 ई. तक यह कलकत्ता के 'स्वतंत्र' पत्र के सम्पादक रहे। वाजपेयी जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन (काशी) के सभापति भी रहे। बनारस में रहते हुए ही उन्होंने वर्ष 1946 में चीन और भारत नामक पुस्तक लिखी थी। प्रस्तुत लेख उनकी इसी पुस्तक के एक अध्याय चीन की संस्कृति से लिया गया है।

एशिया महाद्वीप संसार के महान धर्मों की जन्मभूमि है। मूसाई (यहूदी), ईसाई और इस्लाम धर्मों का जन्म अरब-फिलस्तीन और मदीने में हुआ। आर्य धर्म संसार को भारत ने दिया, जिसका एक अंग जरतुश्त का पारसीक धर्म पारस वा ईरान में विकसित हुआ और ईरान के अभ्युदय के समय यह यूरोप में रोम तक पहुंच गया। चीन में पहले वहीं का कनफ्यूशस मत प्रबल हुआ और बाद को भारत के संसर्ग से ताओ और बौद्ध मतों का प्राबल्य हुआ। कालान्तर में कनफ्यूशस, ताओ और बौद्ध मतों के सम्मिश्रण से चीन में एक नवीन धर्म का आविर्भाव हुआ। यों तो चीन में ईसाई और मुसलमान दोनों धर्मों के अनुयायी भी हैं, तथापि इन पर भी मिश्र धर्म की छाप है। मुसलमान सभी प्रदेशों में हैं और इनकी संख्या 50 लाख से 1 करोड़ तक है। ईसाइयों में रोमन कैथोलिक अधिक हैं। परन्तु प्रोटेस्टैंट और रूसी आर्थोडॉक्स चर्च के अनुयायी भी हैं। साधारणतः चीनी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं, क्योंकि ईसाइयों और मुसलमानों की गिनती तो हो सकती है, परन्तु बौद्धों की नहीं हो सकती। फिर भी, चीनी बौद्ध धर्म भारतीय बौद्ध धर्म से इस अंश में भिन्न है कि उस पर वहां के कनफ्यूशस और ताओ मतों की गहरी पुट है।

चीन के इतिहास का पता 3000 वर्षों से मिलता है। भारतीयों अथवा यों कहिये कि हिन्दुओं की भांति उनमें सांस्कृतिक एकता है। हिन्दुओं की भांति वे भी दुःख को कर्मभोग समझकर ही काटते हैं। चिन्ता और कष्ट के समय भी वे प्रसन्न रहते हैं यह उनकी विशेषता है। सात वर्षों के युद्ध में नाना प्रकार के कष्ट झेलने पर भी उनके चेहरों पर उदासी नहीं दिखाई देती। हमारे देश में अनेक लिपियां और भाषाएं हैं - बोलियों की तो कुछ न पूछिये; परन्तु चीन में अनेक बोलियों के रहते लिपि एक ही है और सभी चीनी इसका व्यवहार करते हैं। चीनी लिपि चित्रात्मक होती है। किसी वस्तु वा भाव की चर्चा करनी होती है, तो उसका चित्र बना देते हैं। यदि चित्र में कोई स्त्री द्वार पर छींकती दिखाई देती है, तो उसका अर्थ ईर्ष्या वा गृहकलह होता है। बच्चे को गोद में लिये हुई स्त्री का चित्र प्रसन्नता का चिन्ह है। कजिया या चबाब दिखाने को घर में तीन स्त्रियों की बातचीत का चित्र बनाया जाता है।

चीन में राजनीतिक एकता यद्यपि बहुत प्रारंभ से ही थी, तथापि यह वैसी ही थी, जैसी भारत में मुगल बादशाहत में। प्रदेशों को यद्यपि बहुत से अधिकार थे, तथापि अफसर उन्हें केंद्रीय सरकार भी भेजती थी। चीन काजल की सी कोठरी है। इसमें जो घुसता है, वही काला अर्थात् चीनी हो जाता है। तातारी और मंचू भी चाल ढाल, रीति नीति में तथा भावों और विश्वासों में चीनी हो गये। चीन की सभ्यता नगरों की नहीं, ग्रामों की है। भारत की भांति कृषि ही वहां के लोगों का मुख्य व्यवसाय और अवलम्ब है। बारह आने लोग खेतों पर ही रहते भी हैं। वे गोमांस नहीं खाते और दूध भी बहुत कम पीते

हैं। खेतों में खाद देने से चीन का पानी खराब हो गया, इसलिए लोग उबाला पानी पीने लगे। परन्तु गर्म पानी पीने में सुस्वादु नहीं होता, इसलिए चीनियों ने उसमें स्वाद लाने के लिए चाय का पता लगाया। यूरोप के व्यापारियों ने चाय का व्यापार चीन से करने के साथ ही उसे अफीम खिलाना भी आरम्भ किया और इस प्रकार उसे अफीमची बनाया। चीन ने ही कागज और छापे का आविष्कार किया था। यूरोपियन राज्यों ने चीन के साथ बहुत बुरा सुलूक किया और उसके वर्तमान संकटों का उत्तरदायित्व इन्हीं पर है। चीन में वर्ण वा जाति व्यवस्था नहीं है।

चीन और भारत का संबंध

चीन और भारत का संबंध बहुत प्राचीन समय से है। मनुस्मृति के अनुसार तो चीनी लोग ब्रात्य क्षत्रिय ही है, क्योंकि उसके दसवें अध्याय में कहा गया है कि पौंड्र, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश क्षत्रिय जाति के थे, परन्तु क्रिया के लोप और ब्राह्मणों के अदर्शन से वे वृषलत्व को प्राप्त हो गये।1 यद्यपि आकृतिशास्त्रियों के मतानुसार मुंह, नाक आदि की बनावट के अनुसार चीनी लोग मंगोल जातीय हैं, तथापि यह भी विचारणीय है कि जलवायु आदि का प्रभाव भी आकृति पर पड़ता है। नेपालियों के तो आर्यजातीय होने में संदेह ही नहीं है, फिर भी इनकी आकृति भारतवासियों की अपेक्षा चीनियों से अधिक मिलती है। और नेपाल में भी कहीं के लोग गोरे तो कहीं के काले होते हैं। मद्रास प्रदेश में भी कहीं के लोग बहुत काले, पर मलाबार के अच्छे गोरे और सुंदर होते हैं।

एक और श्लोक मनुस्मृति में आया है, जिसमें कहा गया है कि भारत के मध्य भाग के ब्राह्मणों से पृथिवी में सब मनुष्य अपने अपने चरित्र वा आचरण सीखें।2 इससे स्पष्ट है कि भारत का मध्य भाग अन्तर्वेद आर्य-संस्कृति का केंद्र था और यहीं से संसार में उसका प्रचार होता था। भारत से जाकर बौद्ध धर्म ही संसार में नहीं फैला, यहां से वैदिक धर्म जाकर भी देशान्तरों में फैला। कहते हैं कि ईस्वी सन् के पहले छठे से चौथे शतक तक उपनिषदों के गूढ़ तत्व और योग के प्राणायाम और आध्यात्मिक अत्यानन्द का प्रचार भारत से जाकर भारतीय और चीनी व्यापारियों ने किया था, परन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ। स्व. अनगारिक धर्मपाल ने भारत में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के संबंध में बड़ा कार्य किया है। ये चीन और जापान आदि की यात्राएं कई बार कर चुके थे। इन्होंने बताया था कि पेकिंग में विष्णु और गणेश की मूर्तियां पायी जाती हैं। इससे सिद्ध है कि पौराणिक मतानुयायियों ने भी अवश्य ही अपने मत का प्रचार किया था। मक्के के काबे में 360 मूर्तियां थीं और एक-एक दिन सबकी पूजा का नियत था। उस समय अरब लोग मूर्तिपूजक थे। इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साब ने सब मूर्तियां हटवा दीं, क्योंकि वे एकेश्वरवाद के समर्थक थे। एक पत्थर जो ‘संगे असवद’ नाम से प्रसिद्ध है, वहां है जिसे हाजी लोग जाकर चूमते हैं। वे काबे की परिक्रमा भी करते हैं। कहते हैं कि परिक्रमा करने में लोग इतनी दौड़ लगाते हैं कि राह में बैठे बहुत से ऊंट पिस जाते हैं।

आर्य धर्म का अति प्राचीन काल में किन लोगों ने कब और किस प्रकार तथा कहां-कहां प्रचार किया इसका पता हमें नहीं है, परन्तु बौद्ध धर्म का जब और जैसे-जैसे संसार में प्रचार हुआ है, उसका वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म के प्रचारकों का सिरमौर सम्राट् अशोक मौर्य था और उसी के प्रयत्नों का फल है कि बौद्ध धर्म एक ओर शाम (सीरिया), मिस्र (ईजिप्ट) और मकदूनिया के राज्यों में फैल गया और दूसरी ओर सिंहलद्वीप से प्रशांत के टापुओं पर प्रभाव डालता हुआ वह जापान तक पहुंचा और इस प्रकार पूर्वी देशों को उसने भाईचारे के सूत्र में बांध दिया। श्री हरविलास सारडा ने ‘हिन्दू सुपीरियरिटी’ नामक अपने ग्रंथ में बौद्ध धर्म को दक्षिण अमेरिका तक पहुंचाया और लिखा कि गाटेमाला गौतमालय है। अस्तु।

पहले चीन भी सामन्त राज्यों में बटा था। इनमें तसिन नामक एक सरदार ने सामन्त राज्य तोड़कर केंद्रीय शासन की स्थापना की, जिससे सारा चीन एक शासनाधीन हो गया। हान जाति के शासन ईस्वी

सन् के पूर्व तीसरे शतक में हुए। इनका ध्यान भी चीन साम्राज्य की अक्षुण्णता बनाये रखने की ओर रहा। उत्तर ओर से होने वाले मंगोलों के आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए 2200 वर्ष पूर्व सम्राट् चिन शिह वांगति ने प्रसिद्ध 'बड़ी दीवार' बनायी और पश्चिमी सीमा पर रहनेवाली जातियों में यूचेन्स से मित्रता की संधियां कीं। ये यूचेस लोग पहले से ही बौद्ध धर्म से प्रभावित थे। ईस्वी सन् से 2 वर्ष पूर्व यूचेस शासकों ने चीन सम्राट् को बौद्ध ग्रंथ अर्पित किये थे। ऐतिहासिक प्रमाणों से इसी समय से चीन के साथ भारत का सांस्कृतिक संबंध स्थापित होता है। कहने को तो ईस्वी सन् से पूर्व 217 में तसिन वंश के शासन के समय ही चीन की राजधानी में बौद्ध प्रचारक पाये गये थे और एक चीनी जेनरल ने भारत से बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा मंगवायी थी। यह ईस्वी सन् से पूर्व 121 की कथा है। परन्तु ये सब दन्तकथाएं हैं और प्रमाणाभाव से विश्वसनीय नहीं है। हां, इसका पक्का प्रमाण है कि मध्य एशिया में बौद्ध शासन पहले ही पहुंच चुका था और यहीं से बुद्ध की मूर्तियां और उपदेश ईस्वी सन् 61-67 के पहले चीन पहुंचे थे।

सन् 65 में हान वंश के सम्राट् मिंगति ने स्वप्न में एक सुवर्ण प्रतिमा देखी थी और इसे मालूम हुआ था कि यह बुद्धमूर्ति है, तो बौद्ध धर्मोपदेशकों को उसने बुलवाया। मिंगति के शासनकाल में ही गोभरण और काश्यप मातंग अपने साथ सफेद घोड़े पर बुद्ध मूर्तियां और बौद्ध ग्रंथ पहले पहल चीन ले गये थे। इनके लिए सम्राट् की आज्ञा से वहां 'श्वेताश्व विहार' तैयार किया गया। दोनों भिक्षुओं ने चीनी भाषा में बौद्ध ग्रंथों का उल्था करने और बुद्ध संदेश का प्रचार करने में अपना जीवन बिता दिया। ये उपदेशक तो मध्य एशिया होकर गये थे, परन्तु इसके प्रमाण हैं कि ईस्वी सन् के पूर्व दूसरे शतक में आसाम और बर्मा के मार्ग से भी भारत के साथ दक्षिण चीन का व्यापार होता था। इस रास्ते से भी बहुत से उपदेशक चीन गये और पीछे तो मार्ग खुल जाने से समुद्र मार्ग से भी लोग चीन जाने लगे।

ईस्वी सन् के दस शतकों में भारतीय उपदेशक बड़ी संख्याओं में चीन गये थे। इनमें मुख्य थे (तीसरे शतक के मध्य में) धर्मरक्ष, 381 में संघभूति, 384 में गौतम संघदेव, 317 में पुण्यवाता और इनका शिष्य धर्मयशः, चौथे शतक में बुद्धयशः, 401 में कुमारजीव, 406 में विमलाक्ष, 414 में धर्मक्षेम, 421 में बुद्धभद्र, 423 में बुद्धजीव, 431 में गुणवर्मा, 435 में गुणभद्र, 520 में बोधिधर्म, 541 में विमोक्षसेन, 546 में उपशून्य और परमार्थ, 559 में जिनभद्र और इनके गुरु ज्ञानभद्र तथा जिनयशः, 590 में धर्मगुप्त, 627 में प्रभाकर मित्र, 693 में बोधिरुचि, 716 में शुभाकर सिंह, 720 में वज्रेबोधि और अमोघवज्र, और 973 में धर्मदेव धर्म का प्रचार करने चीन गये थे। चीनी इतिहास से यह पता नहीं लगता कि 11वें शतक के बाद भी भारतीय धर्मप्रचारक चीन गये थे या नहीं। न जाने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार हो जाने के कारण वहां प्रचारकों का प्रयोजन न रहा हो और दूसरा यह कि 11वें शतक में भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था और वह विराट हिन्दू धर्म का एक सम्प्रदाय बन गया था।

परन्तु यह बात बड़े मार्के की है कि भारत से ही धर्म प्रचारक चीन नहीं गये, चीनी जिज्ञासु भी भारत आये। इसका कारण यह हुआ कि भारत की संस्कृति ने चीन की आत्मा में घर कर लिया था और भारतीय प्रचारक अपने अपने प्रचार मुख्यतः भाषान्तर के कार्य में ऐसे तन्मय हो गये थे कि उन्होंने इसे ही अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य बना लिया था। दूर और अपरिचित देश में अपने चरित्र की उत्कृष्टता के कारण ही वे श्रद्धा के भाजन हुए थे। चीनी बौद्ध धर्म के एक पाश्चात्य आलोचक ने लिखा है कि इन मुनियों के भाषान्तरित और लिखित बौद्ध ग्रंथों के विशाल ढेर को जब कोई पढ़ता है तो महाश्चर्य और आदर से पूर्ण हुए बिना नहीं रह सकता; क्योंकि ये कोरे अनुवाद ही नहीं हैं, प्राचीन चीनी साहित्य के उच्चतम और उत्कृष्टतम ढंग पर इनकी रचना हुई है।

जो भारतीय मुनि पहले चीन के मंदिरों में जाते थे और कोठरियों में बैठकर सावधानी से सूत्रों की नकल करते थे, वे शाकाहारी और नियमित उपासक थे। वे पूर्ण धार्मिक थे और उनके जीवन का मुख्य कार्य परमतत्व में मग्न रहना था। इनकी साधना देख मंगोल जाति के दिल पसीजे और इनके वैयक्तिक प्रभाव से चीनी मुनियों का वह उत्तम दल उत्पन्न हुआ, जिसमें पवित्रता की मर्यादा के साथ चरित्र की उत्तमता का सम्मिलन था। यही आदर्श चीनी बौद्धों के सामने रहा और मुनियों को प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने व्यावहारिक रूप दे दिया। चीनी भाषा में अनेकों बौद्ध ग्रंथों के भाषान्तर हैं, जिनके मूल लुप्त हो गये हैं। यदि भारतीय और चीनी पंडितों का सहयोग हो और वे शोध करें, तो मूल ग्रंथों का उद्धार हो सकता है।

जब कोई धर्म या मत बहुत फैल जाता है, तब स्वभावतः उसमें झगड़े और सम्प्रदाय उठ खड़े होते हैं। चीन में बौद्ध धर्म के संबंध में जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई, तब सत्य का अनुसंधान करने, मूल ग्रंथ पढ़ने और भगवान् बुद्ध के चरणों की रज से पुनीत स्थानों के दर्शन करने चीन से अनेक मनीषी आये। ईचिंग ने बताया है कि तीसरे शतक के मध्य में बीस चीनी मुनियों ने भारत की यात्रा की थी। एक गुप्त सम्राट् ने उनके लिए बोध गया में एक विहार बनवा दिया था, जो चीनी संघ राम कहाता था। इनमें सबसे उत्साही फाहियान 399-414 ई. में स्थल मार्ग से आये और समुद्र मार्ग से लौटे। ची मांग ने 404-424 ई. में, सुंग यून ने 530 ई. में, ह्यूनत्सांग ने 629-654 ई. में, वांग ह्यूआनत्सो ने 634-647 ई. में और ईचिंग ने 671-682 ई. में भारत की यात्रा की थी। वांग ह्यूआनत्सो ने बाद को भारत की कई यात्राएं कीं। इनके सिवा भी जो आये, उनमें ह्यूआनत्सांग सर्वश्रेष्ठ है। ये तो मानो चीन-भारत के सांस्कृतिक सहयोग की मूर्ति है। इनकी यात्रा का वर्णन बाल-वृद्ध सबके लिए लोकप्रिय श्रेष्ठ साहित्य बन गया है।

ह्यूआनत्सांग 622 में पूर्ण भिक्खू बन गये थे और 629 में भारत के लिए चल पड़े थे। यात्रा के आरम्भ में उन्होंने यह प्रार्थना की थी, 'इस यात्रा में मुझे न धन का लोभ है और न प्रशंसा वा कीर्ति का। मेरा एक मात्र उद्देश्य उच्च ज्ञान और सच्चे धर्म का उपार्जन करना है। हे बोधिसत्व, तुम्हारा हृदय जीवन के कष्टों से प्राण के उद्धार के लिए सदा व्यग्र रहता है और मुझसे घोरतर कष्ट क्या किसी ने भोगे हैं? क्या तुम उन्हें नहीं देख सकते?' भारत में ह्यूआनत्सांग ने 16 वर्ष बिताये, उत्तर-दक्षिण की यात्रा थी, शक्तिमान भारतीय नरेशों, कन्नौज के सम्राट् महाराज हर्ष और कामरूप, आसाम के राजा भास्कर वर्मा से परिचय प्राप्त किया। नालन्दा विश्वविद्यालय में धर्मपाल के शिष्य शीलभद्र के नीचे काम किया। धर्मपाल प्रसिद्ध नैयायिक दिङ्नाग के शिष्य थे, जिन्हें असंग और वसुबन्धु जैसे महाध्यापकों से शिक्षा मिली थी। ह्यूआनत्सांग ने विज्ञानवाद के सिद्धान्त का गम्भीर अध्ययन किया था।

खोतान की राह से ह्यूआनत्सांग ने लौटने पर सम्राट् को एक प्रार्थनापत्र भेजा था। इसमें उन कारणों का उल्लेख तो था ही जिनसे वे सम्राट् की अनुमति के बिना ही लम्बी और कठिन यात्रा पर निकल पड़े थे, साथ ही यह भी लिखा था कि 'यदि ज्ञान की खोज में हम दूर की यात्रा करने वाले मनीषियों की प्रशंसा करते हैं, तो जो बौद्ध धर्म के लाभप्रद गुप्त चिन्हों और त्रिपिटक के आश्चर्यजनक शब्दों की खोज करते हैं, वे संसार के बन्धन से लोगों को छुड़ाने में कितने समर्थ हैं? हम ऐसे परिश्रम का मूल्य घटाने का साहस कैसे कर सकते हैं कि उत्साहपूर्वक उनका आदर न करें? मैं ह्यूआनत्सांग बुद्ध दर्शन में बहुत पहले से कुशल हो चुका हूं, जो पश्चिमी जगत् को भगवान् ने प्रसाद स्वरूप दिया है और जिसके नियम और उपदेश पूर्व में अपूर्ण रूप में पहुंचे हैं, सदा सत्य ज्ञान को खोज निकालने के उपाय पर विचार करता रहा और कभी अपनी वैयक्तिक रक्षा की चिंता नहीं की। इसके अनुसार चोंगकुआन (630 ई.) के युग के तीसरे वर्ष के चौथे महीने में विपद् और बाधाओं की कोई परवा न कर मैं गुप्त रूप से भारत पहुंच गया। मैंने रेतीले लम्बे मैदानों की यात्रा की, हिमाच्छादित ढालू पर्वतश्रृंगों पर चढ़ा और लोहे के फाटकों के लम्बे दर्रों से होता हुआ गर्मसागर की क्षुब्ध लहरों के पास से निकला। इस प्रकार मैंने 50000 ली (1 ली

= आधा मील) की यात्रा की। आचार विचारों में मैंने वहां जो हजारों भेद देखे, उनके रहते हुए भी मुझे जो लाखों आपदाओं का सामना करना पड़ा, मैं बिना किसी दुर्घटना के ईश्वर की कृपा से स्वस्थ शरीर से लौट आया और अपने व्रत का उद्यापन करने से मन को जो संतोष हुआ है, उससे आपको अपनी सेवांजलि अर्पण करता हूं। मैंने गृध्रकूट पर्वत को देखा और बोधिद्रुम की पूजा की। मैंने ऐसे चिह्न देखे जो पहले नहीं देखे गये थे और पवित्र वचन सुने जो पहले नहीं सुने गये थे। अद्भुत आध्यात्मिक विषय देखे जो संसार के सब आश्चर्यों से बढ़कर है अपने सम्राट् के उच्च गुणों का साक्ष्य दिया और उनके लिए प्रजा का उच्च आदर और प्रशंसा अर्जन की।'

सम्राट् ने कृपापूर्वक इस अभिनन्दन पत्र की प्राप्ति स्वीकार की और खोतान में अपने अधिकारी को आदेश दिया कि प्रख्यात यात्री की सहायता करे। जब ह्यूआनत्सांग चीन पहुंचे, तब सम्राट् ने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया। उनकी भारत यात्रा और इसके बाद बौद्ध धर्म के लिए उन्होंने जो काम किया, उससे चीनी लोगों में भारतीय संस्कृति के प्रति बहुत अनुराग उत्पन्न हो गया। कहां तो पुराने यात्रियों की यह लगन और धर्मभाव थे कि यात्रा के कष्टों की कोई परवा न कर वे सत्य के अन्वेषण में तत्पर हो जाते थे और कहां यात्रा के सुलभ साधनों की वृद्धि के साथ ही उन भावों का लोप हो गया। शारीरिक क्रूरता घट गयी, पर मानसिक बढ़ गयी। राजनीतिक विषय के कारण दोनों देशों में विद्वानों का गमनागमन बन्द ही हो गया। परन्तु चीन के प्रति भारत की सहानुभूति में कमी नहीं हुई। भारत से चीन को जो अफीम जाती थी, उससे भारतवासी लज्जित थे, पर व्यवस्था दूसरों के हाथ में होने से मन मसोसकर रह जाते थे। भारत सरकार की आय का बड़ा साधन अफीम का व्यवसाय भी था, परन्तु भारतीय देशभक्त, जिनमें स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले का नाम अमर रहेगा, भारत की इस कलुषित आय को त्यागने के लिए सरकार को बराबर दबाते रहते थे और अन्त को सरकार को इस आय का मोह त्यागना पड़ा।

वर्ष1911 में चीन में प्रजातंत्र की स्थापना से भारत को बड़ा हर्ष हुआ। चीनी क्रांति के नेता डॉ. सन यात सेन का नाम यहां श्रद्धा से लिया जाने लगा और कलकत्ते की एक सड़क का नाम ही सन यात सेन स्ट्रीट उनके सम्मान में रख दिया गया। 1924 में चीन सरकार के निमंत्रण पर यहां से स्व. कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर चीन गये थे, जिससे पारस्परिक सहानुभूति में वृद्धि हुई। चीन जापान के युद्ध में भारत की सहानुभूति चीन से ही रही और भारतवासियों ने इस युद्ध के लिए जापान की निन्दा भी की। उसके इस दुर्दिन में पं. जवाहर लाल नेहरू चीन गये और संसार को दिखा दिया कि चीन के साथ भारत की हार्दिक सहानुभूति है। व्यावहारिक सहानुभूति स्वरूप डॉ. अटल के नेतृत्व में एक मेडिकल मिशन चीन भेजा गया। इस महायुद्ध में ही मार्शल च्यांग काई शेक सपत्नीक भारत पधारे थे और समय को देखते इनका अच्छा स्वागत हुआ था। अनन्तर माननीय ताई चि ताओ और डॉ. कू की अध्यक्षता में कई वर्ष पहले एक सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डल चीन से भारत आया था, उससे भी चीन भारत के सांस्कृतिक संबंध में उन्नति हुई है। विद्यार्थियों का दोनों देशों में गमनागमन आरम्भ हो ही गया है और इसी प्रकार यदि शिक्षकों का गमनागमन बढ़ा, तो दोनों देशों में अनुराग और हित की बृद्धि अनिवार्य है। भारत से हिन्दी पढ़ाने के लिए शांति निकेतन ने एक शिक्षक भेजा है यह विशेष महत्व की बात है। चीन जिन कठिनाइयों और संकटों को पार कर रहा है, उनमें भारत की सहानुभूति यहां चीन दिवस मनाकर दिखायी गयी। 1944 में चीन के निमंत्रण पर डा. सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन चीन पधारे थे।

गतिविधि

भारत-चीन सम्बन्धों पर संगोष्ठी

✍ मनोज आर्य

लेखक सभ्यता अध्ययन केंद्र झारखंड से संबद्ध हैं।

भारत और चीन विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में शामिल हैं। इन दोनों देशों और उनकी सभ्यताओं के बीच सम्बन्ध आदि काल से है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इन सम्बन्धों को लेकर बहुत कुछ कहा और सुना जा रहा है। इन्हीं संदर्भो को ध्यान में रखकर सभ्यता अध्ययन केंद्र ने दिनांक 09 अगस्त 2020 को "भारत-चीन सम्बन्ध" पर एक ऑनलाइन परिचर्चा का आयोजन किया, जिसमें देश के विभिन्न प्रांतों से प्रतिभागियों ने भाग लिया। कार्यक्रम का संचालन केंद्र से सम्बद्ध वरिष्ठ शोधार्थी श्री शुभम वर्मा ने किया एवं विषय प्रवेश केंद्र के निदेशक श्री रवि शंकर ने कराया। इस कार्यक्रम की मुख्य वक्ता भारतीय विद्या भवन में प्राच्या विद्या विभाग की अध्यक्ष डॉ शशिबाला थीं। डॉ. शशिबाला ने चीन समेत समस्त उत्तर पूर्वी एशियायी देशों के साथ भारत के संबंधों पर गहन अध्ययन किया है। इन विषयों पर उन्होंने अनेक शोध प्रबंध भी लिखे हैं। साथ ही 20 से अधिक पुस्तकें भी लिखी हैं। संस्कृत ऑन सिल्क रोड उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। श्री रवि शंकर ने विषय प्रवेश कराते हुये निम्नलिखित विषय बिंदुओं के साथ वेबिनार की शुरूआत की :

1. चीन-भारत विवाद के मिथक और यथार्थ क्या हैं?
2. चीन का कम्युनिस्ट राज्य भारत का शत्रु है या चीनी समाज?
3. भारत-चीन संबंधों का क्या इतिहास रहा है?
4. कितना विशाल और शक्तिशाली है चीन?
5. भारत और चीन का तिब्बत और सिक्यांग से संबंधों का इतिहास
6. किन रणनीतिक सावधानियों की आवश्यकता है?

प्रथम बिन्दु चीन-भारत विवाद के मिथक और यथार्थ लेकर ही श्री रवि शंकर ने वार्ता का प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा कि विषय में मिथक शब्द रखने का कारण भी स्पष्ट है। लगभग 60-70 वर्षों से चीन का शासन तंत्र शत्रु की तरह व्यवहार कर रहा है। चीन ने 1962 में भारत भूमि का एक बड़ा भूभाग हस्तगत कर लिया जिससे हमारे यहां से गुजरने वाला 'रेशम मार्ग' (सिल्क रूट के नाम से प्रसिद्ध) हमसे अलग हो गया। उन्होंने इस बात पर प्रकाश डाला कि कभी चीन भारत का विकृत नक्शा बनाता है तो कभी वह भारत के पूर्वी क्षेत्रों को अपना बताता है, और उसके इसी रवैये के कारण कोई भी भारतीय यही मानेगा कि चीन एक शत्रु देश है। परन्तु देश क्या है? क्या देश का अर्थ केवल सत्ता है या वहां का समाज एवं व्यक्ति भी देश को बनाते हैं? चीन भी भारत की तरह प्राचीन देश रहा है जिसका भारत के साथ ना केवल सांस्कृतिक बल्कि राजनैतिक,

आर्थिक, सामाजिक, सामरिक आदि संबंध भी रहे हैं यहां तक कि "चीन" नाम भी हम भारतीयों का ही दिया हुआ है।

डॉ शशिबाला ने सभ्यता एवं संस्कृति की बात कर विषय को विस्तार देना प्रारंभ किया। उन्होंने कहा कि संस्कृति से लगाव उत्पन्न होता है और संस्कृति का आदान-प्रदान भी होता है। आगे उन्होंाने कहा कि चीन की लिपि भाषा इत्यादि तो हमसे अलग है, यद्यपि कई स्थानों पर कई विधियों में हममें साम्य भी रहा है। अपनी विलासितापूर्ण जीवन शैली के कारण चीन के लोग हमारी आश्रम व्यवस्था को अपना नहीं पाए। उन्होंने बताया कि चीनी भाषा में 2, 000 से अधिक संस्कृत पुस्तकों काअनुवाद हुआ है, उसी में विलासितापूर्ण जीवन एवं संन्यास आश्रम के त्याग की पुष्टि के लिए एक पुस्तक है, जिसका नाम है विमल कीर्ति निर्देश। विमल कीर्ति राजकुमार था और बौद्ध मत का अनुयायी था। वह पूर्ण वैभव के साथ रहता था और धर्मनिष्ठ भी था। यह नायक चीनियों को बहुत भाया और इसकी प्रशंसा और कीर्ति भी खूब फैलाई गई है।

डॉ शशिबाला जी ने हुए चीन के भौगोलिक इतिहास एवं भारत के साथ संबंध के विषय में कहा कि चीन एक बहुत ही छोटा सा देश था और वह समाजवादी नीति के अनुसार अपना विस्तार कर रहा है। मुख्य रूप से चीन हान प्रदेश था इसका मुख्य शहर कैंटन था, उत्तर में पीकिंग था, पश्चिम में सियांग था। तिब्बत को चीन ने तीन भागों में बांटा है और और तीनों भागों के नाम क्रमशः पहला तिब्बत दूसरा अमजोंग, तीसरा चिनॉय है, जिसका पुराना नाम कोकोनोर था। कोको का अर्थ है नीला और नोर का अर्थ है समुद्र अर्थात नीला समुद्र। चीनी सम्राट भारत के आचार्यों को बुलाते थे और इसके लिए तो कभी-कभी सेनाओं को भी भेजते थे। चीन के लोग भारत के ज्ञान से इतना प्रभावित थे कि वे संस्कृत के ग्रन्थों को और आचार्यो को चीन ले जाने के लिए हमेशा तत्पर रहा करते थे। इन सभी ग्रंथों का चीन के लोग संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद करते थे। प्रत्येक विधा की पुस्तकों का अनुवाद होता था, जैसे, आध्यात्मिक, राजनैतिक, स्वास्थ्य संबंधित, विज्ञान संबंधित, आयुर्वेद इत्यादि। यहां तक कि भारतीय आचार्य चीन में जाकर वहां की महामारियों का भी उपचार करते थे, युद्ध के समय चीन के शासक भारतीय आचार्यों को युद्ध जीतने के तरीके एवं सुझाव लेने के लिए भी बुलाते थे।

उन्होंने चीन पर भारत के प्रभाव को लेकर कहा कि भारत का प्रभाव 2000 वर्षों से चीन पर है जो आज भी देखने को मिल जाएगा, प्रत्येक स्थान पर मठ-मंदिर, बौद्ध विहार इत्यादि मिलते ही हैं। इसके साथ ही चीन की दीवार पर आज भी संस्कृत में लिखे श्लोक बहुतायत में मिलते हैं। एक श्लोक को उद्धृत कर उन्होंने बताया कि बीजिंग की ओर की दीवार पर 14वीं शताब्दी में लिखा गया श्लोक है'उच्चनिशविजयाधारणी' जोकि चीन के एक राजा के द्वारा युद्ध के समय लिखवाया गया था। चीन के लोग आचार्यों के साथ-साथ भारतीय वैद्यों को भी मान देते थे। वास्तव में जो आज पारंपरिक चीनी मेडिसिन के नाम से चीनी शासन प्रचारित करवा रहा है, वास्तव में वह भारतीय आयुर्वेद ही है। चीन पर भारतीय कला का भी बहुत प्रभाव है और इसी बात को स्पाष्ट करने के लिए डॉ. शशिबाला ने एक उदाहरण भी दिया कि चीन में गुफाओं की श्रृंखला/समूह है, इसमें शासकों ने बहुत सारे नक्काशी और चित्र बनाए हैं उसमें एक गुफा का नाम दुनमुहाँग है जिसमें मूर्तियां नक्काशी, चित्रकारी भारतीय दर्शन के अनुसार की गई है।

चीन और भारत के विद्वानों और संस्थाओं के द्वारा वर्तमान में बहुत सारे कार्य किए जा रहे हैं। डॉ. शशिबाला ने इस बात पर भी प्रकाश डाला कि चीन के संग्रहालय में भारत से लेकर गई बहुत सारी पुस्तकें हैं जो संस्कृत भाषा में लिखी गई हैं और उनकी लिपि खरोष्ठी है। चीन के विद्वान उस लिपि को पढ़ कर समझने का प्रयास कर रहे हैं और संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद भी कर रहे हैं, जबकि भारत में उस लिपि को लेकर कोई रुचि ना शासन के पास है ना व्यक्तियों के पास। पुस्तैकों के विषय में

बात करते हुए आगे उन्होंचने कहा कि चीन में पुस्तक लकड़ी के फट्टों पर लिखी जाती थी जो आज भी राष्ट्रीय संग्रहालय में रखी गई हैं। वस्तुओं के संग्रह में विशेष कर पुस्तकों के संग्रह में चीन भारत से बहुत आगे है, उसके पास ब्राह्मी लिपि, प्राकृत लिपि यहां तक कि संस्कृत की पुस्तकें भी सुरक्षित हैं जबकि वहां भी आक्रमण (विशेषकर मुस्लिम आक्रमण) हुए हैं, इसके बावजूद भी उन्होंने अपनी चीजों को सहेज कर रखा है। उन्होंने कला को भी सहेज कर रखा है जिसे वह आज समझ रहे हैं शोध कर रहे हैं। वहीं इस पर भारत के दृष्टिकोण को लेकर उन्होंने कहा कि हमारे यहां तो अपने ही ग्रंथ और भाषा लुप्त प्राय हो गए हैं। डॉ. शशिबाला ने सुझाव दिया कि भारत-चीन संबंधों के बारे में जानने के लिए हमें विद्वानों का समूह तैयार करना चाहिए जो चीनी भाषा के साथ मंगोल को भी जानते हों और उनके यहां उपलब्ध संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन कर उन्हें भारतीय भाषाओं में अनुवाद कर सकें।

इसके बाद श्रोताओं ने अपनी जिज्ञासा उनके समक्ष रखी। डॉ विवेक भटनागर ने पूछा कि खरोष्ठी लिपि जो भारत की ही है उसको पढ़ने का प्रयास भारत में क्यों नहीं किया जाता? इसके उत्तर में डॉक्टर शशिबाला ने कहा कि ना ही व्यक्ति और ना ही शासन इस कार्य में रुचि लेता है, इसको जानने वाला अब कोई नहीं है मैं एक विद्वान को जानती हूं जो इस लिपि को पढ़ना जानते हैं पर वह काफी वृद्ध हो चुके हैं।

इसके बाद श्री मुरारी गुप्ता ने प्रश्न किया कि चीन और भारत के लोगों के बीच वार्ता के लिए कौन सी भाषा माध्यम थी और संस्कृति अध्ययन को लेकर भारत सरकार के मंत्रालय इस पर क्या कार्य करें हैं? इस पर डॉ. शशिबाला ने बताया कि भारतीय और चीनियों के बीच बोलचाल का माध्यम संस्कृत ही था, हालांकि वह इतनी शुद्ध नहीं होती थी, परंतु संस्कृत ही थी। चीनियों को भारतीय पुस्तकों का अनुवाद करना होता था जो कि संस्कृत में होती थी अतः चीनी भी संस्कृत पढ़ते थे और बोलते थे।

वेबिनार में जुड़े श्री आदित्य कुमार की जिज्ञासा यह थी कि जिस प्रकार चीन विभिन्न देशों में अपनी भाषा संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए कंफ्यूसियस केंद्र खोले हैं और इसका सारा खर्च चीनी सरकार उठाती है तो क्या भारत सरकार भी इस प्रकार का कार्य करती है? इस पर डॉ शशि बाला ने उत्तरदिया कि भारत सरकार ऐसा नहीं करती है, यद्यपि कुछ देशों के साथ समझौते किए गए हैं परंतु वह केवल खानापूर्ति तक ही सीमित रह गए हैं।, भारत सरकार शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर राशि तो खर्च बहुत करती है परंतु सभ्यता और संस्कृति की ओर नाममात्र की ही करती है और इस विषय पर हम से चीनी बहुत आगे हैं।

श्री अविनाश कुमार पांडे का प्रश्न था कि हमें चीन और भारत के प्रगाढ़ संबंधों पर लिखी कौन-कौन सी पुस्तकें पढ़नी चाहिए? डॉ शशि बाला जी ने उत्तर दिया इस विषय को समझने के लिए हमें उनकी विचारधारा को और उनके दर्शन को समझना होगा। जब सत्ता आती है तो शक्ति का प्रदर्शन भी होता है तो यह भी एक पक्ष है, परंतु हमें उनके दर्शनों को भी समझना होगा। दर्शनों की समझ ही हमें बता सकती है कि हम में क्या समानता है और क्या असमानता है, चीन के संबंध में भी यही बात लागू होती है हमें उनके दर्शनों को भी समझना होगा हमें ताओ को, कंफुसियस को पढ़ना होगा। उन्होंने दो पुस्तकों, इंडो-चीन इनसाइक्लोपीडिया (यह दो खंडों में है) और अक्रॉस द हिमालयन गैप: एन इंडियन क्वेस्ट फॉर अंडरस्टैकडिंग चाइना, का नाम भी सुझाया।

सभ्यता संवाद

सदस्यता–प्रपत्र

मेरी प्रति कूरियर रजिस्टर्ड डाक द्वारा इस पते पर प्रेषित की जाए :

नाम ....

....

पता ....

.... पिन ....

दूरभाष/मोबाइल ....

ईमेल ....

सदस्यता शुल्क

व्यक्तिगत - वार्षिक सदस्यता शुल्क 500/– पाँच वर्षीय सदस्यता शुल्क 2500/–

संस्थागत - वार्षिक सदस्यता शुल्क 1000/– पाँच वर्षीय सदस्यता शुल्क 5000/–

संलग्न मनीऑर्डर चेक डिमाण्ड ड्राट

चेक/ड्राफ्ट-क्रमांक................. बैंक का नाम................. शाखा............. दिनांक..........

ऑनलाइन भुगतान कर सकते हैं-

Centre for Civilisational Studies
Bank Name : ICICI
A/c No. 022705001874
IFSC Code : ICIC0000227

हस्ताक्षर एवं दिनांक

वर्ष 2 ◆ अंक 3 ◆ आषाढ़–श्रावण–भाद्रपद, 5122 कलि. ◆ जुलाई–अगस्त–सितम्बर, 2020 ई.

लेखकों से निवेदन

सभ्यता–संवाद एक त्रैमासिक शोध पत्रिका है। इसमें हिंदी भाषा में उच्च कोटि के अनुसंधानात्मक, आलोचनात्मक तथा समीक्षात्मक शोध–निबंध प्रकाशित किए जाते हैं। लेख प्रेषित करने से पूर्व निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है:

- कृपया मौलिक, अप्रकाशित, अप्रसारित निबंध भेजें। आपका लेख पहले से वेब पर किसी भी वेबसाइट या लॉग आदि में प्रकाशित नहीं होना चाहिए। निबंध के शीर्षक के ऊपर मौलिक एवं अप्रकाशित अवश्य लिखें।
- सभ्यता संवाद के लिए भेजे जाने वाले निबंध 2500 शब्दों से कम न हों, अधिकतम शब्द सीमा 5000 है। व्यक्तिगत स्तंभ के लिए भेजे जाने वाला लेख 2000 शब्दों से अधिक का न हो।
- कृपया अपने लेख में संदर्भ अंकित करने के मानकों का पालन करें। संदर्भ देते समय पुस्तक/पत्रिका का नाम, लेखक/संपादक का नाम, प्रकाशक का नाम-स्थान, प्रकाशन वर्ष का उल्लेख होना आवश्यक है।
- पत्रिका के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए आपके लेख का शीर्षक बदलने, वाक्यांशों, अनुच्छेदों में परिवर्तन करने अथवा इसमें संपादन करने का अधिकार संपादक मण्डल के पास है।
- आपके शोध-निबंध को पत्रिका में प्रकाशित करने या न करने के बारे में अंतिम निर्णय संपादक-मण्डल का ही होगा। स्वीकृत रचनाओं के प्रकाशन में एक से तीन अंकों का समय लग सकता है। अस्वीकृत रचनाओं के विषय में पत्र व्यवहार नहीं किया जाता है।
- कृपया अपना निबंध यथासंभव टंकित करके अथवा सुपाठ्य अक्षरों में हस्तलिखित शोध पत्र रवि शंकर, संपादक, सभ्यता संवाद, बी 14, गली नं. 13 वजीराबाद गांव, दिल्ली-110084 पते पर प्रेषित करें। सॉफ्ट कॉपी sabhyatasamvad@gmail.com पर ईमेल अवश्य करें। सॉफ्ट कॉपी में लेख मंगल यूनिकोड अथवा कृतिदेव-010 फॉण्ट में टाइप किया हुआ होना चाहिए।
- कहानी, लघुकथा, कविताएं, प्रहसन, प्रेरक-प्रसंग, संस्मरण, हास्य-व्यंग्य, आत्मकथा, डायरी, आलोचना, यात्रा वृतान्त न भेजें।
- पुस्तक समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना अनिवार्य है। पुस्तक की समीक्षा, पत्रिका द्वारा अपने स्तर पर करवाकर पक्राशित की जायेगी, अतः समीक्षा साथ न भेजें। पुस्तक-समीक्षा के लिए पत्रिका के अगले दो अंकों से पूर्व पत्र-व्यवहार न करें।
- प्रथम बार लेख भेजने वाले लेखक कृपया अपना पूरा परिचय एवं चित्र भी संलग्न करें।

सभ्यता अध्ययन केन्द्र

बी14, गली. नं. 13, वजीराबाद गांव, दिल्ली–110084, **दूरभाष :** 9899588033, 9654669293

ईमेल : sabhyatasamvad@gmail.com, www.civilisationalstudies.org

फेसबुक : https://www.facebook.com/sabhyatasamvad/